संपादन:
राजेश खिंदरी
माधव केलकर
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान
दीपक वर्मा

वितरण:
महेश बसेड़िया

सहयोग:
गजेन्द्र सिंह राठौर
रामभरोस यादव
अनिल पटेल

अकादमिक सहयोग:
गौतम पांडेय
अजय शर्मा
अरविंद गुप्ते

शैक्षिक
संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-33, अगस्त-सितंबर 2000

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 53518
ई-मेल: eklavyamp@vsnl. com
eklavyahoshangabad@bigfoot.com

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 50 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ व पिछला आवरण: रेगिस्तानी इलाकों में सांप चलने के लिए एक एकदम फर्क तरीके का इस्तेमाल करता है क्योंकि वहां पर न तो शरीर को आगे की ओर धकाने के लिए पत्थर, घास, पेड़ों के तने जैसी स्थिर वस्तुएं होती हैं; और साथ ही नीचे की ज़मीन पर भी पकड़ नहीं बनाई जा सकती क्योंकि रेत अत्यन्त भुरभुरी होती है।

चलने का यह तरीका इतना विचित्र है कि अगर आप सांपचिन्हों को देखें तो सोचते ही रह जाएंगे कि आखिर सांप ने ये निशान कैसे बनाए होंगे, और इस तरह से चलते हुए सांप गया किस दिशा में होगा! इस तरीके में सांप के चलने की दिशा और उसके शरीर से बनने वाले निशानों में लगभग साठ अंश का कोण बनता है।

ये सांपचिन्ह अंग्रेज़ी के अक्षर 'जे' की तरह दिखते हैं और उनकी खासियत होती है कि प्रत्येक निशान की लंबाई ठीक उस सांप के बराबर होती है जिसने वे निशान बनाए हैं।

इस अंक में निम्न किताबों से चित्र लिए गए हैं: ***द नेचुरल हिस्ट्री ऑफ इवोल्यूशन:*** *फिलिप व्हाइट फील्ड; प्रकाशक: मार्शल एडिशन डिवेलपमेंटस लिमिटेड, लंदन।* ***एनालिसिस ऑफ वर्टिब्रेट स्ट्रक्चर:*** *मिल्टन हिल्डेब्रांड; प्रकाशक: जॉन विली एंड संस।* ***वर्टिब्रेट लाइफ:*** *एफ. हार्वे पुग, जॉन बी. हेसर, विलियम एन. मेकफारलैंड; प्रकाशक: प्रेंटिस हाल, न्यूजर्सी।* ***साइंटिफिक अमेरिकन:*** *जून 1970।* ***द राइज़ ऑफ इस्लाम एंड द बंगाल फ्रंटियर 1204–1760:*** *रिचर्ड ईटन; प्रकाशक: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।* ***ए हिस्टोरिकल एटलस ऑफ साउथ एशिया:*** *जोसेफ ई. श्वार्टबर्ग द्वारा संपादित; प्रकाशक: द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो एंड लंदन।*

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित

हवाई फूल बनाम भूमिगत फूल 15

ज़मीन के अंदर भी फूल होते हैं यह बात बहुत ही कम लोगों को मालूम होगी। आलू, मूंगफली तक की बात तो ठीक है लेकिन क्या किसी पौधे में ज़मीन के भीतर फूल भी लग सकते हैं? और यदि लग भी जाएं तो इससे क्या फायदा उन्हें?

दुनिया भर में पाए जाने वाले फूलों की केवल 36 प्रजातियों में फूल उनके भूमिगत तनों पर ज़मीन के भीतर लगते हैं। मज़ेदार बात यह है कि उनमें से दो हमारे आसपास मौजूद हैं। बारिश के मौसम में आसानी से मिलने वाले कनकव्वा के पौधे और खट्टी बूटी दोनों में भूमिगत फूल पाए जाते हैं।

तौबा ये मतवाली चाल 44

सांपों के पैर नहीं होते लेकिन इस कमी के बावजूद वे बिना किसी परेशानी के चल लेते हैं। क्या कभी आपने यह सोचा है कि सांप कैसे चलते हैं? क्या सारे सांप एक ही तरीके से चलते हैं या सांप की कद-काठी और निवास के हिसाब से उनमें फर्क-फर्क तरीके पाए जाते हैं? आम्तौर पर सांप चलने के लिए चार तरीकों का इस्तेमाल करते हैं जो एक-दूसरे से काफी फर्क होने के बावजूद अपने-आप में खासे दिलचस्प हैं।

1872 में बंगाल में मुस्लिम आबादी का वितरण

शैक्षिक संदर्भ

अंक: 33 अगस्त-सितंबर 2000

इस अंक में

बंगाल में 1872 की जनगणना में यह रुचिकर तथ्य उभरा कि निचले बंगाल के मुसलमान पुरानी राजधानियों के चारों तरफ नहीं बल्कि डेल्टा के उर्वर मैदान में बसे थे। जब इस तथ्य की व्याख्या इस्लाम के प्रसार के लिए प्रचलित चार सिद्धांतों से करने की कोशिश की गई तो समझ में आया कि ये सिद्धांत अपने-आप में पर्याप्त नहीं हैं।

इसके बाद हुए शोध से यह समझ में आता है कि बंगाल में मुस्लिम कृषक वर्ग का उद्भव मुगल काल में 16वीं सदी में हुआ था। कई ऐतिहासिक स्रोत इस बात की पुष्टि करते हैं। लेकिन फिर भी एक सवाल बरकरार रहता है कि मुगलों के समय में ऐसा क्या हो गया कि बंगाल में इस्लाम का प्रसार ज़ोरों से हुआ? मुगलों ने तो धर्मांतरण में कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई, उनका प्राथमिक उद्देश्य तो कृषि उत्पादन को बढ़ावा देना था।

आपने लिखा

संदर्भ का 32 वां अंक सही समय पर प्राप्त हुआ। विंषय सूची देखते ही मेरी खुशी दोगुनी हो गई क्योंकि इसमें 'नेपच्यून की खोज' पर एक लेख था; और खगोलशास्त्र मेरा प्रिय विषय है। साथ ही लैंगिक द्विरूपता संबंधी लेख पढ़कर कुछ भ्रम भी दूर हुए। हम नर और मादा कौए में अंतर नहीं कर पाते और आगे भी नहीं कर पाएंगे। इस लेख को पढ़ने के कुछ दिनों बाद ट्रेन से सफर करते हुए नर नील गाय को देखने का सौभाग्य मिला।

'भाषा अनुभव और विज्ञान' पर लेख बहुत ही बेहतरीन था। लेख संगठित समाज की शक्ति की ओर इशारा करता है।

'स्कूली किताबों की भाषा' पढ़कर अपने स्कूली दिनों की याद आ गई जब किसी भी बात को समझने के लिए बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती थी।

आसिफ अली खान
फतेहपुर, उ. प्र.

अंक 32 समय पर मिला, आशा है आगे भी समय पर मिलते रहेंगे। 'शौकिया वैज्ञानिक' में चींटी के बारे में रोचक जानकारी मिली।

'स्कूली किताबों की भाषा' लेख आज की स्कूली किताबों की हकीकत को पेश करता है। यह एक कड़वी सच्चाई है कि प्राथमिक कक्षाओं की किताबें स्कूली या कॉलेज के व्याख्याताओं से लिखवाई जाती हैं, जिन्हें व्यवहार में न तो प्राथमिक कक्षाओं को पढ़ाने का अनुभव होता है और न ही बाल मनोविज्ञान का ज्ञान। लेखक का यह सुझाव उचित है कि किताबों के लेखन में प्राथमिक कक्षाओं के शिक्षकों की भूमिका तय हो। साथ ही ग्रामीण और शहरी स्कूलों के छात्रों से उनकी पाठ्यपुस्तकों के बारे में विचार जान लिए जाएं तो और भी बेहतर होगा।

रमेश कुमार जांगिड़
हनुमानगढ़, राजस्थान

अंक 31 में दी गई कहानी 'अनारको और चोर अंकल' कुछ समझ में नहीं आई। कहानी पढ़कर लगा कि अनारको एक 7-8 साल की बच्ची है। मगर जिस तरह की बातें वह करती है उसके बस के बाहर की हैं। दूसरी बात 'चोर अंकल' को लगता है कि उनके हिस्से का खाना कोई मालदार उड़ा ले गया है तो उसे पाने का तरीका चोरी है, यह कुछ जंचता नहीं।

इस कहानी में 'चोरी' या 'चोर अंकल' को महिमा मंडित करने के अलावा कुछ नहीं निकलता। पता नहीं इस कहानी को छापने के पीछे आप लोगों की क्या सोच रही है। अगर आपको 'चोर अंकल' की बातों से साम्यवाद की महक आ रही हो तो मैं जानना चाहूंगी कि साम्यवाद की कौन-सी विचारधारा अपना उड़ाया हुआ खाना पाने के लिए चोरी जैसा घृणित तरीका सुझाती है।

वंदना त्रिपाठी
होशंगाबाद, म. प्र.

कंपनी का प्रचार कितना उचित ......

संदर्भ के अप्रैल-मई अंक में अनारको कहानी के चोर अंकल वाले चित्र को छोड़कर शेष सभी चित्रों के लिए विप्लव को बधाई। चोर अंकल वाले चित्र के साथ न्याय नहीं किया गया।

मुझे इस बात के लिए कहीं अधिक दुख है कि आपने इतनी प्रमुखता के साथ भारत पेट्रोलियम कंपनी का गुणगान और वह भी अपने शब्दों में गाया।

पिछले कई सालों से पूरी दुनिया में मौसम में हो रहे विनाशकारी बदलाव के लिए पेट्रोलियम कंपनियों को ज़िम्मेदार ठहराते हुए विश्व स्तर पर मुहीम चलाई जा रही है। पेट्रोलियम पदार्थों से इंसानी सेहत और पर्यावरण को होने वाले नुकसान में गाड़ियों के पेट्रोल में मिले सीसे से लेकर बच्चों के दिमाग को पहुंचने वाली गंभीर क्षति शामिल है। आपकी जानकारी में यह भी लाना चाहूंगा कि भारत पेट्रोलियम और भी तरीकों से बच्चों के दिमाग को नुकसान पहुंचा रहा है।

हाल के सालों में कई बड़ी कंपनियों ने भ्रामक तथ्यों और इंसानियत के खिलाफ विचारधाराओं के प्रचार-प्रसार में बच्चों को खासतौर पर निशाना बनाया है। कंपनियों ने इस प्रचार में इंटरनेट का काफी सहारा लिया है। इंटरनेट पर भारत पेट्रोलियम अपने वेबसाइट पर बच्चों के लिए खास 'लिंक्स' उपलब्ध करवाती हैं जैसे – टाइम फॉर किड्स, बार्बी डॉट कॉम, सी. आई. ए. किड्स पेज, गैप डॉट किड्स आदि। आप लोग बच्चों के साथ काम करते हैं। बच्चों को विनाशकारी उपभोगवाद व मानवताविरोधी विचारधाराओं में फांसते इन वेबसाइटों को बढ़ावा देने वाली भारत पेट्रोलियम कंपनी का प्रचार करने के लिए आपको अपनी गलती स्वीकार करनी चाहिए।

– सतीनाथ षडंगी, भोपाल, म. प्र.

32वां अंक पढ़ा। फाइनमेन तथा जे. बी. एस. हाल्डेन के लेख पढ़े। दोनों वाकई उम्दा हैं। लेकिन सोने के दांत वाले सांप में लगता है एक गड़बड़ हो गई है। एक जगह लिखा है कि एनाकोंडा अजगर जैसे ज़हरीले नहीं होते। ये बात अखरी। कहीं ये अनुवाद की त्रुटि तो नहीं। फिर नौ साल का मेरा भतीजा रजत एक दिन संदर्भ पढ़ रहा था। पहले तो उसने पूछा कि ये जे. बी. एस. कौन है। मैंने उसे

बताया कि ये एक बड़े जीव विज्ञानी हैं और ख्याति प्राप्त विज्ञान लेखक हैं। कुछ ही देर बाद उसने भी अजगर के ज़हरीले होने की बात लिखी होने का कहा और तुरंत बोला कि आप तो कह रहे थे कि ये बड़े वैज्ञानिक हैं। मुझे लगा कि एक छोटे बच्चे की यह बात जिसने संदर्भ पढ़कर इसे पकड़ा, ज़रूर लिखना चाहिए।

इसी अंक में पृष्ठ 96 पर 'जीव संदीप्ती' वाले कुकर-मुत्तों का बड़ा सुंदर चित्र है जिसके नीचे लिखा है – फफूंद यानी कुकर-मुत्ते। यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि सभी फफूंद कुकर-मुत्ते नहीं होते। यह फफूंदों के समूह का केवल एक प्रकार है जो मेक्रोस्कोपिक फफूंद है। वैसे अधिकांश फफूंद अत्यंत सूक्ष्म होते हैं जिन्हें बिना सूक्ष्मदर्शी की मदद से नहीं देखा जा सकता।

किशोर पंवार
शासकीय महाविद्यालय, सेंधवा, म.प्र.

मैं शैक्षिक संदर्भ का 1995 से पाठक हूं। इससे हमें काफी जानकारियां मिलती हैं जिन्हें मैं और लोगों तक पहुंचाता हूं। मैं इस समय अनौपचारिक शिक्षा केंद्र चलाता हूं। हमारे शिक्षा केन्द्र के एक लड़के ने सवालीराम से यह सवाल पूछा है कि लड़के-लड़की की शादी हो जाने के बाद, शादी हो गई है इसकी अलग-अलग पहचान क्या है? जवाब ज़रूर दीजिए। इससे बच्चों का उत्साह बढ़ेगा।

यह खत नासिक जेल से लिख रहा हूं। परीक्षा देने हम कुछ साथी बंबई गए थे। सफर के दौरान जी. आर. पी. के साथ झगड़ा हो गया और फिलहाल जेल में बंद हैं। यद्रि कक्षा पहली से आठवीं के बच्चों के लिए कुछ नई सामग्री प्रकाशित हुई हो तो कृपया सूचित कीजिए।

अरविंद कुमार सोनार
रिठैया, इलाहाबाद, उ. प्र.

एक अनुरोध

आपको यह जानकर खुशी होगी कि आप सबके द्वारा भेजी पत्र-पत्रिकाओं से यहां (जेल में) एक छोटी-सी लाइब्रेरी तैयार हो गई है। यहां ढाई हज़ार बंदियों को पुस्तकें बांटकर उनके समय का सदुपयोग होते देखकर दिल खुश हो जाता है। आपसे एक निवेदन है कि चकमक और संदर्भ के अंक में हमारी ओर से एक अपील छापें कि पाठकों के पास आई पत्र-पत्रिकाएं व पुस्तकें पढ़ने के बाद उन्हें वे हमारे पास भेजकर कैदियों की मदद करें।

राजकुमार गुप्ता
नाशिक रोड़ जेल, नाशिक, महाराष्ट्र, पिन: 422101

——— बहस-मुबाहिसा ———

बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता एक पहलू यह भी ......

प्रोफेसर रमाकांत का लेख और उस पर श्रीधर जोशी की टिप्पणी पढ़ी। दरअसल अंग्रेज़ी और हिन्दी की अलग-अलग किस्म की जटिलताएं हैं। 'बट' और 'पुट' जैसी अंग्रेज़ी की जटिलताएं तो काफी स्थूल और बहुचर्चित हैं। दूसरी ओर हिन्दी की जटिलताएं इतनी सूक्ष्म हैं कि अक्सर उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम प्रायः अंग्रेज़ी की ऐसी जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य में दोनों भाषाओं की तुलना करके मान बैठते हैं कि हिन्दी बहुत वैज्ञानिक और सरल भाषा है। इसे सीखने में बच्चे को कोई मुश्किल नहीं होनी चाहिए। उस लेख और पत्र पर मैं कुछ प्रतिक्रियाएं देना चाहूंगी।

— कोई वर्ण लिखने के लिए किसी एक तरीके को ही सही मानने का कोई औचित्य मुझे नज़र नहीं आता। सबको अपनी सुविधानुसार लिखने की छूट होनी चाहिए। हां, बच्चों की लेखन पद्धति का निरीक्षण ज़रूरी है क्योंकि जब बच्चा लिखना सीख रहा होता है तब बच्चे का हाथ सधा नहीं होता। वह अपनी सुविधानुसार वर्णों को टुकड़ों में बांटकर लिखता है और किसी भी दिशा में लिखने की शुरुआत करता है। ऐसे में यदि वह 'स' को

ा न य स

क्रम में लिखेगा तो बड़ी कक्षाओं में जाने पर जब उसे कई पन्ने लिखने पड़ेंगे तो उसकी लिखने की गति अपेक्षाकृत धीमी होगी क्योंकि ऊपर बताए तरीके से लिखने पर उसे कलम बार-बार उठानी पड़ेगी। इसलिए वर्ण लिखने के वे सभी तरीके मान्य होने चाहिए जिससे लिखने की रफ्तार बनी रहे। उदाहरण के लिए 'क' को ा ꣻ क

की तरह लिखने पर कम रवानगी है जबकि ा व क

की तरह लिखना अधिक सुविधाजनक है।

— मात्राएं सीखना वास्तव में बहुत से बच्चों के लिए टेढ़ी खीर होता है। प्रश्न उठता है कि मात्राएं बच्चों को इतनी मुश्किल क्यों लगती हैं? क्या उन्हें मात्रा सिखाने के तरीके में कोई खामी है? श्रीधर जी ने लिखा है कि 'कई' और 'की' का अंतर स्पष्ट करने के लिए मात्राएं सीखना ज़रूरी है। देखा जाए तो 'कई' वस्तुतः क+ई (ka+i) है जबकि 'की' क + ी (k+i) है। पर हम 'की' को क + ी लिखते हैं। यदि कोई बच्चा 'आम' को 'ाम' लिख रहा है (ऐसा उदाहरण

मैंने देखा है) तो तार्किक दृष्टि से वह गलत नहीं है क्योंकि 'आ' और 'ा' दोनों ā ध्वनि के प्रतीक चिन्ह हैं। हां, प्रचलन की दृष्टि से इसे गलत माना जाएगा। मात्रा की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती जबकि अ, आ ... आदि स्वतंत्र अक्षर हैं और वह हमेशा किसी वर्ण के साथ जुड़ती है। इसी प्रकार इ–ई और उ–ऊ के प्रयोग में बच्चे प्रायः गलती करते हैं क्योंकि शब्द के अंत में इनका उच्चारण लगभग एक-सा होता है।

– 'ष' और 'ऋ' का मूल उच्चारण तो अब खत्म हो गया है। ऐसे में बच्चों को यह बात समझने में समय लगेगा कि श–ष, रि–ऋ, और श्री–शृ किन शब्दों की वर्तनी में आते हैं। श्रीधर जी ने 'ऋ' को शुद्ध बोलना और पढ़ना सिखाने की बात कही है। हिन्दी के धुरंदर विद्वान भी 'ष' और 'ऋ' का सही उच्चारण नहीं कर पाते फिर अध्यापक से ही यह अपेक्षा क्यों की जाए? चूंकि 'ऋ' का इस्तेमाल हिन्दी के गिने-चुने शब्दों में होता है इसलिए बच्चा धीरे-धीरे यह सीख ही जाता है कि उसे लिखते हुए 'ऋ' का इस्तेमाल कहां करना है।

– श्रीधर जी ने 'गई' और 'गयी' में गयी को सही माना है। पर हिन्दी में गई, लिए, नई आदि अब पूरी तरह स्वीकृत व प्रचलित हैं क्योंकि हम इनका उच्चारण इसी तरह करते हैं; गयी, आयी, लिये, नयी आदि नहीं बोलते। पर यहां प्रश्न सही व्याकरणिक रूप नहीं बोलने की सुविधा का है। ये परिवर्तन 'जैसा बोलो वैसा लिखो' की दिशा में एक कदम है जिसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

– यहां मुद्दा यह साबित करना नहीं है कि अंग्रेज़ी और हिन्दी में से कौन-सी भाषा ज़्यादा जटिल या वैज्ञानिक है। सरल और वैज्ञानिक मानी जाने के बावजूद हिन्दी में कई जटिलताएं और अ-वैज्ञानिकताएं हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भाषा बहता नीर है। नियमों के पालन से भाषा जीवित रहती है – यह अर्द्ध सत्य है। भाषा परिवर्तनशील है क्योंकि उसके नियम परिवर्तनशील हैं। ध्वनि संबंधी नियमों में परिवर्तन होने पर बोलने व लिखने का अंतर बढ़ेगा ही क्योंकि लिखने में परिवर्तन को जल्दी स्वीकृति नहीं मिलती।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए बच्चों को भाषा सिखाई जानी चाहिए और उनकी भाषा सीखने और गलतियां करने की प्रक्रिया को समझना चाहिए। बच्चों में इन जटिलताओं से निपटने की सहज क्षमता होती है जो अनुकूल परिवेश और प्रोत्साहन से धीरे-धीरे विकसित होती है। यही कारण है कि बहुत कम बच्चे 'क्रिया' को 'कृया', 'तृतीय' को 'त्रितीय' और 'पृथ्वी' को 'प्रिथ्वी' लिखने की गलती करते हैं।

मुकुल प्रियदर्शिनी
मयूर विहार, दिल्ली

बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता

अंक 28 व 29 में दो भागों में छपे मेरे लेख 'बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता' पर जो श्रीधर जोशी व गंगा गुप्ता ने अंक 30 में अपनी प्रतिक्रिया भेजी है उसके लिए मैं उनका आभारी हूं। मुझे अच्छा लगा कि गंगा गुप्ता को भाषा की संरचना समझने में कुछ मदद मिली। संदर्भ के माध्यम से भाषा पर एक संवाद जारी रहे यह हम सबके लिए लाभकारी है। श्रीधर जी से लंबी बातचीत हो सके तो अच्छा। शायद कभी उनसे मिलने का अवसर मिले। लेकिन एक-दो मुख्य बातें अभी कह दूं। विशेषकर कुछ ऐसी बातें जिनकी तरफ श्रीधर जी ने ध्यान नहीं दिया या मैं ठीक से कह नहीं पाया।

एक मुख्य मुद्दा है बच्चे की सीखने की क्षमता का। ध्वनि—संरचना व लिपि व्यवस्था के अनेक ऐसे अमूर्त नियम होते हैं जो न तो मां-बाप बता सकते हैं और न ही शिक्षक (हालांकि वे उन नियमों को जानते हैं पूरी तरह से)। फिर भी हर बच्चा उन नियमों को सहज संजो लेता है।

दूसरा मुद्दा है बोलचाल की भाषा व लिपि के संबंध का। हर समाज़ यही सोचकर लिपि-व्यवस्था का संयोजन करता है कि ध्वनि व वर्णों आदि में सही तालमेल हो। भला कोई भी लिपि बनाने वाला ऐसी व्यवस्था क्यों बनाएगा कि put तो 'पुट' हो लेकिन but 'बट'। सच तो यह है कि आज भी लाखों अंग्रेज़ी बोलने वाले but को 'बुट' ही कहते हैं और bus को 'बुस' व cup को 'कुप'।

बोलचाल की भाषा अत्यधिक तीव्र गति से बदलती है। लिखने के तरीके अधिक स्थाई होते हैं और धीमी गति से बदलते हैं। इसलिए ध्वनि व वर्णों में बिठाया गया तालमेल गड़बड़ा जाता है। फिर भी बच्चे में क्षमता होती है कि वह सभी गुत्थियां सुलझा लेता है उस व्यवस्था की।

मुझे देवनागरी लिपि से कोई शिकायत नहीं और न ही मैं रोमन लिपि का दीवाना हूं। बात है भाषा व लिपि के संबंध को समझने की। जब कोई हिन्दी-भाषी 'ऋ' या 'ष्' बोलेगा ही नहीं तो बच्चे उस ध्वनि को स्वतः कैसे लिख लेंगे। हां, बताने पर चित्र की तरह कुछ शब्द वे याद कर लेते हैं यथा 'ऋषि वाली ऋ' या 'षट्कोण वाला ष्'। 'इ—ई' व 'उ—ऊ' में अंतर अवश्य है लेकिन बोलचाल की भाषा में कम होता जा रहा है। इसका कारण यह नहीं कि कक्षाओं में श्रुतलेख बंद हो गया है अपितु यह कि बोलचाल की भाषा निरंतर बदलती रहती है और लिपि इस दौड़ में पीछे रह जाती है। बोलचाल की भाषा निरंतर न बदलती तो हम आज भी संस्कृत ही बोलते। दूसरी तरफ संस्कृत और हिन्दी

आज भी देवनागरी में ही लिखी जाती है।

तीसरा मुद्दा है विविधिता का। मानकीकरण का खूब बोल-बाला है। फिर भी भाषा में, लिपि में व सीखने के तरीकों में खूब विविधता रहती है। कोई भी दो व्यक्ति एक तरह से नहीं लिखते। किसी भी वर्ण को एक ही तरह से लिखा जाएगा और वही तरीका सही माना जाएगा, ऐसा नहीं है। हर व्यक्ति का लिखने का अपना तरीका होता है। देवनागरी में छोटी 'इ' की मात्रा को देखिए। यह मात्रा लिखी तो व्यंजन से पहले जाती है लेकिन बोलते समय इसका उच्चारण बाद में किया जाता है जैसे कि, किस, किसान आदि। लिखने का क्या नियम होना चाहिए – पहले 'ि' की मात्रा लिखें या 'क'। बच्चा कैसे भी लिखे, कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

हम लोग बच्चों को अधिकतर यह सोचकर पढ़ाते हैं कि उन्हें कुछ नहीं आता। हमें उन्हें 'सिखाना' है। ध्वनि संरचना व लिपि व्यवस्था के उदाहरण देकर मैं केवल बच्चों की स्वयं सीखने की क्षमता की तरफ इशारा करना चाहता था। यदि हम बच्चों की क्षमता व व्यवहारिक विविधिता को ध्यान में रखकर बच्चों को पढ़ाएं तो पढ़ाई-लिखाई कहीं अधिक रुचिकर हो सकती है। बच्चों के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलना चाहिए यही मुख्य बात है।

श्रीधर जी ने एक बात बिल्कुल सही कही। मेरे पास समाधान नहीं हैं। समस्या को समझने का प्रयास भर है। जब बच्चे की क्षमता, भाषा की संरचना व सीखने की प्रक्रिया को ही नहीं समझेंगे तो समाधान क्या देंगे।

रमाकांत अग्निहोत्री
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

बच्चे और जंग

शुभदा जोशी

बच्चों में अक्सर फौजियों को लेकर ज़बरदस्त आकर्षण होता है। कारगिल युद्ध के समय तो ये आकर्षण अपनी चरम सीमा पर था। हमारे खेलघर में बच्चों ने कई बार कहा, "मैं सैनिक बनूंगा, चाची।" हालांकि हमने बच्चों से ऐसा कुछ भी नहीं पूछा था। आमतौर पर अपने आसपास घटने वाली घटनाओं के प्रति उदासीन रहने वाले बच्चे युद्ध के इस दौर में जंग की खबरों के प्रति खासे उत्सुक रहते थे। 'चाची, हमें ठीक से समझाकर बताइए न, हम जीत रहे हैं न?' बच्चों के ऐसे सवालों के बारे में हम हमेशा आपस में चर्चा करते थे।

'फौजी बनने के लिए क्या-क्या पढ़ना पड़ता है?' इस सवाल का जवाब पाने के लिए एक बार हम बच्चों को पुणे में ही स्थित नेशनल डिफेंस एकेडमी (एन. डी. ए.) लेकर गए। बच्चों ने बेहद चाव के साथ वहां का जायज़ा लिया – वहां की इमारतें, फिल्में, अनुशासन, जीवन शैली आदि। इस सब का उन पर काफी प्रभाव पड़ा और काफी दिनों तक यह प्रभाव देखा गया; और साथ ही अपने देश के प्रति अभिमान की भावना भी।

हमारी गतिविधियों में दिलचस्पी रखने वाले हमारे एक जर्मन दोस्त पीटर अर्लनवाइन भी बीच-बीच में बच्चों से मिलने आते रहते हैं। इस घटना के कुछ दिन बाद जब एक बार वे हम लोगों से मिलने आए थे तो बातों-ही-बातों में मैंने पीटर को बताया कि हम लोग बच्चों को लेकर एन. डी. ए. गए थे। यह बताना था कि पीटर का चेहरा थोड़ा बुझ गया।

बच्चों के साथ बातचीत के अनुभव से मैंने कहा, "ऐसा लगता है कि सैनिक बनना हमारे कई बच्चों के जीवन का लक्ष्य है।"

"ऐसा उन्हें क्यों लगता है?", पीटर

ने पूछा। फिर बातचीत को यहीं रोककर पीटर बच्चों से गप-शप करने लगे।

कौन दोस्त – कौन दुश्मन

दो बड़े कागज़ बीच में रखकर उन्होंने बच्चों से उस पर भारत का नक्शा बनाने के लिए कहा।

"भारत के बारे में जो मुझे पता है वह मैं तुम लोगों को बताता हूं और तुम लोगों को जो पता है वह मुझे बताओ", पीटर बच्चों से काफी सरल अंग्रेज़ी में बातें कर रहे थे। जो बच्चे पीटर की बात समझ रहे थे वे अपने साथियों को मराठी में बताते जा रहे थे। साथ ही मैं भी बच्चों की मदद कर रही थी।

पीटर भारत में देखी जगहों व शहरों के नाम बताते और फिर बच्चे उन जगहों को नक्शे में दिखाकर उनके बारे में जानकारी देते। जब ज़रूरी लगता तो पीटर भी उसमें कुछ जोड़ देते थे।

थोड़ी देर बाद पीटर ने उन जगहों के बारे में चर्चा शुरू की जो बच्चों ने देखी नहीं थी। धीरे-धीरे चर्चा पड़ोसी देशों तक जा पहुंची। पीटर चाचा का देश, जर्मनी भी ग्लोब पर देख लिया। चीन, भूटान, नेपाल के बाद पाकिस्तान की बारी आई। तुरंत ही कुछ बच्चों ने कहा 'हमारा दुश्मन'।

"ऐसा क्यों कह रहे हो?" पीटर चाचा ने सवाल किया।

"वो हमें परेशान करते हैं, हम पर हमला बोलते हैं।"

पीटर, "पाकिस्तान में कौन रहता है?"

"मुसलमान।"

पीटर, "क्या भारत में मुसलमान नहीं रहते?"

"हां, लेकिन बहुत थोड़े। वहां तो सभी मुसलमान हैं।"

पीटर, "क्या वहां और कोई लोग नहीं रहते?"

खामोशी छा गई।

पीटर, "क्या तुम लोगों को पता है पहले भारत और पाकिस्तान दो अलग-अलग देश नहीं थे। सिर्फ एक ही बड़ा देश था। और आज जिन्हें हम दुश्मन कह रहे हैं वे हज़ारों साल हमारे साथ इसी देश में रहते आए हैं।"

बच्चे खामोश हो गए लेकिन उनके चेहरे पर तनाव दिखाई दे रहा था। फिर पीटर ने बच्चों से पूछा, "अच्छा मुझे क्या कहोगे? मैं तो काफी सालों से भारत में रह रहा हूं।"

"लेकिन आप जर्मन ही हैं।" बच्चों ने कहा।

"और मेरी बेटी? वो तो भारत में ही पैदा हुई है।" पीटर ने पूछा।

"वो भारतीय है।"

"अच्छा, अब मैं तुम्हें एक और मज़ेदार बात बताता हूं। मेरी एक दोस्त है। वो जर्मनी में पैदा हुई। उसे जर्मनी और

वहां के लोग बेहद पसंद हैं। फिर वह किसी काम के सिलसिले में इटली गई और उसे इटली भी भा गया। वह अब काफी सालों से इटली में ही है। बीच-बीच में वो जर्मनी भी आती है। अब मेरी उस दोस्त को किस देश का कहा जाएगा?"

बच्चों ने थोड़ा विचार-विमर्श किया और फैसला सुनाया, "दोनों ही देश उसके हैं।"

पीटर ने बच्चों से पूछा, "और शिवेन के बारे में तुम लोगों की क्या राय है?" (शिवेन पीटर का दोस्त है जो बच्चों को हंसाने के लिए विदूषक का काम करता है। इस बातचीत से कुछ दिन पहले बच्चों ने शिवेन का खेल/शो देखा था।)

पीटर ने बच्चों को फिर से कुरेदा, "शिवेन तो तुम जैसे बच्चों को हंसाने के लिए कई सारे मुल्कों में घूमता-फिरता है, है न?"

बच्चे खामोश थे। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि क्या बोलें। फिर भी बच्चों ने कहा, "लेकिन पाकिस्तान हमें जान-बूझकर परेशान कर रहा है तो हमें उन्हें सबक क्यों नहीं सिखाना चाहिए?"

बच्चों को यदि बहुत ही आसान बनाकर बताया जाए तब भी यह सारा मसला काफी गुत्थियों से भरा है। परन्तु पीटर ने कोशिश जारी रखी।

"तुम लोगों ने थोड़ा-बहुत इतिहास तो पढ़ा ही है। अंग्रेज़ों ने लगभग डेढ़ सौ साल भारत पर शासन किया। जब वे भारत छोड़कर जा रहे थे तब यहां एक हिन्दुओं का और दूसरा मुसलमानों का देश बनाया जाए ऐसी मांग उठी और भारत के दो हिस्से कर दिए गए।"

पीटर ने जारी रखा, "देखा जाए तो इस किस्म का बंटवारा कर पाना खासा कठिन काम था क्योंकि उस समय सभी हिस्सों में हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहते थे। इस अलग देश के मुद्दे पर काफी झगड़े हुए, विवाद हुए। आखिरकार जिन हिस्सों में मुसलमान आबादी ज़्यादा थी उन्हें भारत से अलग कर दिया गया और वो बन गया – पाकिस्तान। फिर भी काफी सारे मुसलमान भारत में रह गए और इसी तरह काफी सारे हिन्दू पाकिस्तान में रह गए। आज भी पाकिस्तान में रहने वालों के काफी सारे दोस्त, रिश्तेदार, गांव वाले भारत में रहते हैं और भारत में रहने वालों के दोस्त, रिश्तेदार पाकिस्तान में रहते हैं।"

"लेकिन फिर झगड़ा किसलिए है?", बच्चों ने पूछा।

बीच में टोककर मैंने बच्चों को बताने की कोशिश की, "झगड़े के कई कारण हैं। जैसे भारत का एक राज्य है काश्मीर। उसे पाकिस्तानी लोग अपने में मिलाना चाहते हैं...।" लेकिन पीटर

ने मुझे बीच में ही रोक दिया और बच्चों को बताने लगा, "किसी से झगड़ा करना हो तो झगड़े के लिए किसी खास वजह की ज़रूरत नहीं होती। झगड़ा खत्म करना सबसे कठिन होता है। फिर कुछ लोगों का फायदा इसी में होता है कि झगड़ा चलता रहे, इसलिए वे हमेशा आग में घी डालने का काम करते रहते हैं।"

पीटर गंभीरता के साथ बता रहा था, "कभी-कभी हम लोगों को भी अपने दोस्त पर बेहद गुस्सा आता है। उसे मार डालने का मन करता है। लेकिन हम लोग क्या करते हैं? क्या अपने दोस्त को सचमुच मार डालते हैं? दोस्त को खत्म करके क्या हम सुख से रह सकेंगे?"

बच्चे एकदम चुप हो गए। उनके पास कोई जवाब नहीं था। वे पीटर की सभी बातों या तर्कों से सहमत हों ऐसा ज़रूरी नहीं, लेकिन अपनी राय को लेकर उनके दिलो-दिमाग में कई सवाल उठने लगे थे। उनके इन सवालों को यदि ज़िंदा रखना है तो एक खुली बातचीत और चर्चा का वातावरण आगे भी बनाए रखना होगा।

चर्चा का सार

आज हमारे परिवेश में मीडिया द्वारा, इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में वर्णित युद्धों के ज़रिए, वीरों की शौर्य-गाथाओं आदि के द्वारा बच्चों को जो दिया जा रहा है उसकी वजह से ही बच्चों में युद्ध, सैनिकों और हथियारों के प्रति एक विशेष लगाव दिखाई देता है। लेकिन इंसानियत के पन्नों पर कालिख पोतने वाला युद्ध का दूसरा पक्ष भी तो है – मृत्यु का तांडव, अनाथ होने वाले बच्चे और परिवार; इसके साथ-साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोगों के दिलो-दिमाग में बना रहने वाला ईर्ष्या और बैर भाव। क्या इन सबके बारे में बच्चों से बातचीत नहीं करनी चाहिए?

पीटर ने बच्चों के साथ इस विषय में जो चर्चा की उससे बच्चों को यह तो समझ में आया कि 'युद्ध' कभी भी किसी के लिए खुशी की बात नहीं हो सकती और किन्हीं खास हालातों में ही युद्ध जैसी घटना घटित होती है। ये सब बातें बच्चों तक एक हद तक पहुंचाने से उनके साथ एक सार्थक संवाद बन सका है, ऐसा समझ में आया।

शुभदा जोशी: पालक नीति पत्रिका के संपादक मंडल की सदस्य हैं। विविध सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय।

*पालक नीति अप्रैल 2000 से साभार। **पालक नीति** पुणे से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका है जिसका मुख्य फोकस शिक्षा एवं विविध सामाजिक मुद्दों पर होता है।*

हवाई फूल

वीणु कौल, ए. के. कौल एवं एम. सी. शर्मा

संपादन – किशोर पंवार

ज़मीन के अंदर भी फूल लग सकते हैं क्या? अगर लग भी जाएं तो वहीं रहते हुए क्या वे परागित हो सकते हैं और क्या उनसे बीज बन सकते हैं?

दुनिया भर में तकरीबन ढाई लाख किस्म के फूल यानी फूलों वाले पौधे पाए जाते हैं। इनमें से लगभग सभी पौधों में फूल ज़मीन के ऊपर खिलते हैं। परन्तु छत्तीस प्रजातियां ऐसी भी हैं जिनमें भूमिगत तनों पर फूल लगते हैं।

ज़मीन के ऊपर लगने वाले फूल जिन्हें हवाई फूल कह सकते हैं, दो तरह के होते हैं – खिलने वाले और न खिलने वाले। पहले वाले वे सब आम फूल हैं जिनमें पर-परागण संभव है। दूसरी किस्म के फूल खिलते नहीं हैं और उनमें बंद अवस्था में ही परागण यानी स्व-परागण हो जाता है।

भूमिगत तनों पर लगने वाले फूल सदैव 'न खिलने वाले' ही होते हैं। खिलने वाले फूल आकार में बड़े होते हैं, खूब सारे परागकण पैदा करते हैं और उनमें बहुत से छोटे-छोटे बीज बनते हैं। इसके विपरीत 'न खिलने वाले फूल' आकार में छोटे होते हैं, उनमें बहुत कम परागकण होते हैं और थोड़े से परन्तु भारी बीज बनते हैं।

फूल पौधे का प्रजनन अंग है। कल्पना कीजिए कि यदि फूल तने पर हवा में लगने की बजाए जड़ की तरह ज़मीन में ही लगते तो कैसा होता। निश्चित ही यह दुनिया नाना किस्म के रंगों और सुगंधों से वंचित रह जाती। न ही हमें तरह-तरह के फूल देखने को मिलते। परंतु पौधों के लिए तो शायद भूमिगत फूल ज़्यादा लाभदायक होते। ऐसी स्थिति में उन्हें अपने ढेर सारे संसाधन रंगीन पदार्थों तथा बड़ी मात्रा में परागकण, मकरंद व गंध बनाने में नहीं लगाने पड़ते। इसके अतिरिक्त भूमिगत फूल में परागण सुनिश्चित होगा तथा ये फूल परभक्षियों और पर्यावरण के विपरीत प्रभावों से भी बचे रहेंगे। किन्तु सच तो यह है कि अधिकांश फूल ज़मीन के ऊपर तने पर लगते हैं और पौधे उपरोक्त सभी लाभों से वंचित रह जाते हैं। वैसे ज़मीन से ऊपर फूल आने के कई फायदे भी हैं:

1. इससे एक फूल के परागकण दूसरे फूल के बीजाण्ड का निषेचन कर पाते हैं। इस प्रकार आनुवंशिक लक्षणों में विविधता पैदा होती है जो प्राकृतिक चयन का एक आधार है।
2. परागकण व बीज दूर-दूर तक बिखर सकते हैं। ज़मीन के ऊपर खिलने वाले फूल परागकण और बीजों के बिखराव का काम संपन्न करते हैं।

कहां फूल और कहां फल

क्र.	फूल का विकास	परागण	फल का विकास	उदाहरण
1.	तने पर, बाहर हवा में	हवा में	हवा में	अधिकांश पेड़-पौधे सुरजमुखी, कपास, सेमल आदि
2.	विकास ज़मीन में, फूल बाहर	हवा में	हवा में	प्याज़, लहसुन, ट्यूलिप, लिली
3.	विकास तने पर, बाहर	हवा में	ज़मीन के अंदर	मूंगफली एवं अन्य पौधे
4.	ज़मीन में	ज़मीन में	भूमिगत	कनकव्वा एवं खट्टी बूटी

यह बात प्याज़, लहसुन, लिली तथा अन्य बल्बधारी पौधों के उदाहरण से स्पष्ट होती है। बल्ब दरअसल एक रूपांतरित भूमिगत तना है जिसके चारों ओर भोजन संग्रह करने वाली पत्तियां लगी होती हैं। प्याज़ इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है। इन बल्बधारी पौधों में फूल का विकास बल्ब के अंदर ही भूमिगत रूप से होता है। छिपा हुआ फूल ज़मीन के बाहर परागण हेतु धकेला जाता है। इसके फल और बीज का विकास ज़मीन के बाहर होता है।

जीओकार्पी – फूल हवा में फल ज़मीन के अंदर

कई पौधों में फूल ज़मीन के ऊपर खिलते हैं परन्तु फल का विकास ज़मीन के अंदर होता है। मूंगफली इसका एक आम उदाहरण है। मूंगफली में फूल ज़मीन के ऊपर खिलते हैं।* ये फूल पीले रंग के तितलीनुमा होते हैं। परागण के तुरंत बाद इनकी पंखुड़ियां झड़ जाती हैं और फिर ये अंडाशय सहित ज़मीन की ओर झुकते हैं तथा अंततः ज़मीन में घुस जाते हैं। फल व बीज का विकास ज़मीन के अंदर ही होता

** मूंगफली में भूमिगत तनों पर भी फूल लगते हैं। अलबत्ता यदि इन भूमिगत कलियों को ज़मीन के ऊपर लाकर रोशनी दिखाई जाए तो ये तत्काल खिल जाती हैं। यानी ये फूल सचमुच क्लिस्टोगेमस अर्थात, न खिलने वाले, नहीं हैं और ये पौधे सचमुच एम्फिकार्पिक नहीं हैं।*

स्वपरागण	परपरागण
1. जब परागण एक ही पौधे के द्विलिंगी फूल अथवा उसी पौधे के अन्य फूलों के बीच हो।	1. जब परागण एक ही जाति के दो अलग-अलग पौधों के द्विलिंगी या एकलिंगी फूलों के बीच हो।
2. इस विधि में नए पौधे बनाने में एक ही जनक लगता है।	2. इस विधि में दो विभिन्न जनक पौधे संपर्क में आते हैं।
3. किसी बाहरी साधन पर निर्भर नहीं रहना पड़ता।	3. बाहरी साधन जैसे कीट पतंगों एवं पक्षियों पर निर्भर रहना पड़ता है।
4. लगातार स्वपरागण होने से नए पौधे कमज़ोर होने की संभावना होती है।	4. पर-परागण होने से जीन्स का आदान प्रदान होता है।
5. नए संयोग नहीं बनते, जिससे विभिन्नता नहीं आती।	5. नए संयोग बनते हैं जिससे नई किस्म बनने की संभावना रहती है।
6. संसाधन एवं ऊर्जा की खपत की दृष्टि से ज़्यादा प्रभावी है।	6. ऊर्जा की दृष्टि से ज़्यादा खर्चीला है।

है। ज़मीन के अंदर फल का विकास होना जीओकार्पी कहलाता है। मूंगफली के अलावा जीओकार्पी के अन्य उदाहरण हैं ट्रायफोलियम सबटेरेनियम तथा बोएण्डज़ीया सबटेरेनिया यानी आडवर्क कुकुम्बर।

एम्फीकार्पी – फूल व फल दोनों ज़मीन में

विकास के क्रम में पौधों में कई बार सचमुच के भूमिगत फूलों का विकास भी हुआ। ढाई लाख फूलधारी वनस्पतियों में से मात्र 36 प्रजातियां ऐसी हैं जिनमें फूल व फल दोनों ज़मीन के अंदर विकसित होते हैं। ये प्रजातियां दस अलग-अलग फूलों की सदस्य हैं। सर्वाधिक एम्फीकार्पिक प्रजातियां मटर कुल यानी दलहन (10 प्रजातियां) तथा घास कुल (8 प्रजातियां) के पौधों में पाई जाती हैं। अधिकांश ऐसे पौधे

भूमिगत तनों पर भूमिगत फूल: अभी तक जिन छत्तीस प्रजातियों में भूमिगत फूल → पाए गए हैं उनमें से चार यहां दिखाई गई हैं। इनमें से दो तो कनकव्वे की किस्में हैं जो बारिश के मौसम में अक्सर देखने को मिल जाती हैं। आप भी उन्हें उखाड़कर भूमिगत फूल देख सकते हैं।
ऊपर वाले दोनों पौधों की खासियत यह है कि इनमें पाए जाने वाले हवाई तने, ज़मीनी तने और भूमिगत तने पर अलग-अलग तरह के फूल खिलते हैं।
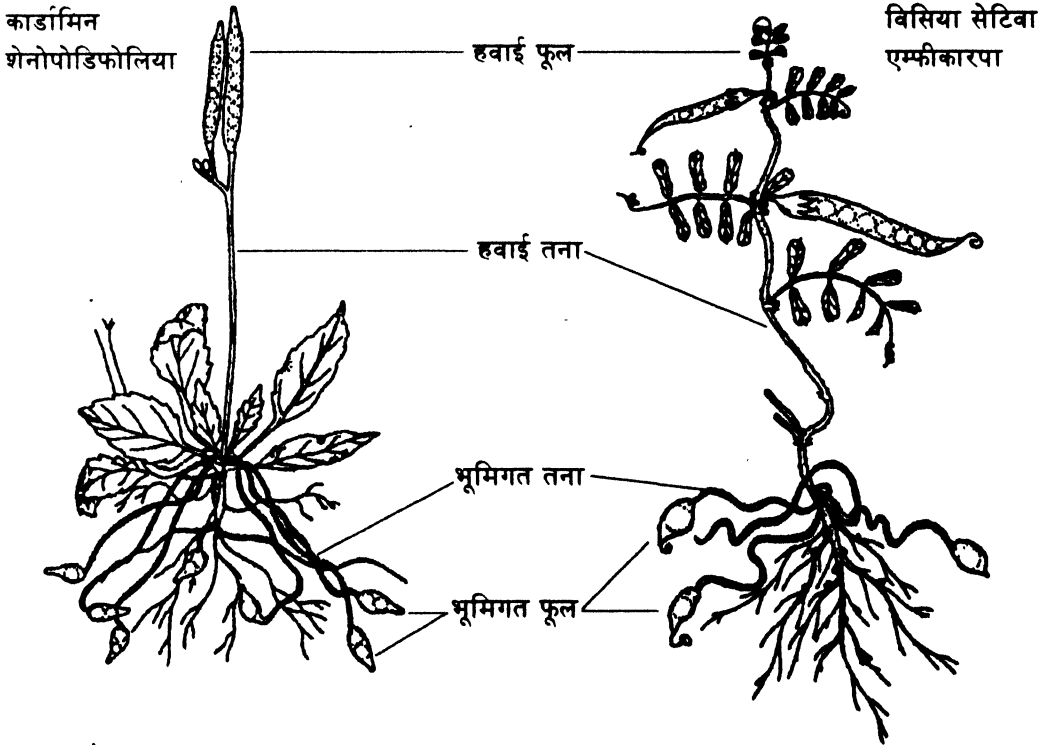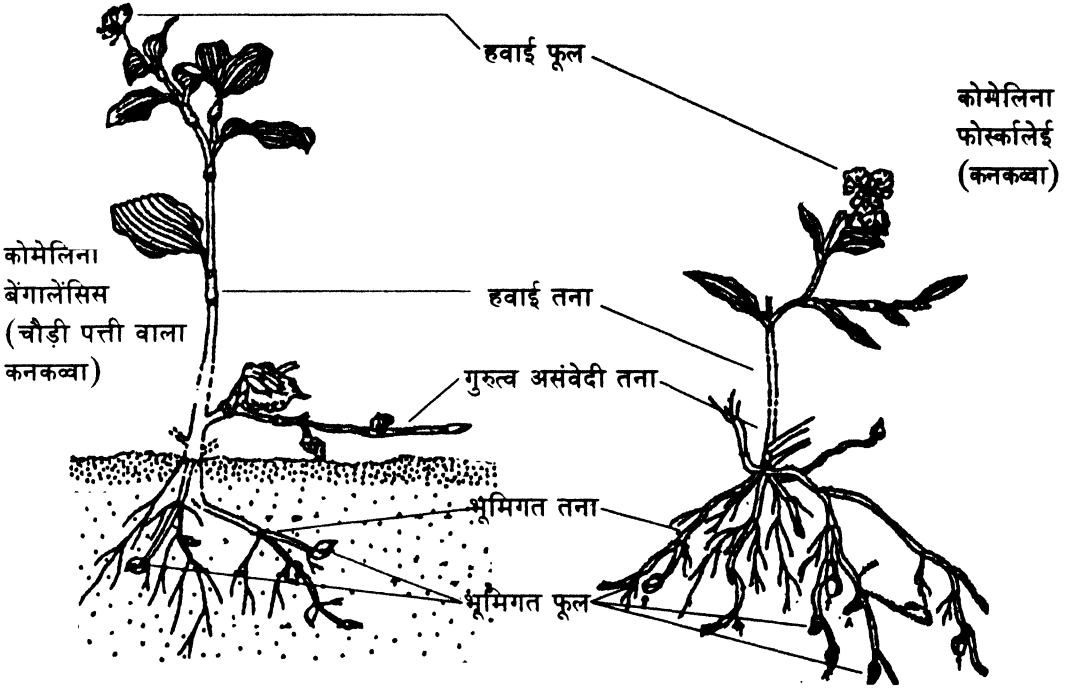
एक वर्षीय होते हैं। समस्त एम्फीकार्पिक पौधों में कुछ गुण समान होते ही हैं:

1. स्व-निषेचित भूमिगत फूल की उपस्थिति जो बड़े फल व बीज में विकसित होता है; तथा इनके बीजों का बिखराव सीमित होता है।
2. ज़मीन से ऊपर फूल जो पर-परागण के लिए उपयुक्त होते हैं। ये फूल कई छोटे-छोटे फल और बीज बनाते हैं जिनका बिखराव दूर-दूर तक होता है।

अर्थात सभी एम्फीकार्पिक पौधों में हवाई तथा भूमिगत दोनों प्रकार के फूल मिलते हैं।

हवाई फूलों में पर-परागण की संभावना होती है। इससे प्रजाति में आनुवंशिक विविधता को बढ़ावा मिलता है। हवा के साथ उड़कर ये फल/बीज दूर-दूर तक पहुंचते हैं और प्रजाति का भौगोलिक विस्तार बढ़ता है।

दूसरी ओर भूमिगत फूल सदैव स्व-परागित होते हैं तथा ये मूल पौधे की जीन-संरचना को अक्षुण्ण रखते हैं। भूमिगत फल व बीज प्रजाति को एक सूक्ष्म आवास में सुरक्षित रखने में मददगार साबित होते हैं।

एंफीकार्पम पुर्शाई एक घास है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है इसके

खट्टी बूटी: आमतौर पर बगीचों में पाया जाने वाला एक पौधा है जिसकी पत्तियों का स्वाद खट्टा होता है इसलिए यह अक्सर खट्टी बूटी (ऑक्सेलिस) नाम से जाना जाता है। इसके बैंगनी हवाई फूल जितने दिलकश हैं उतने ही भूमिगत फूल भी। पहले चित्र में खट्टी बूटी का हवाई फूल और दूसरे में भूमिगत फूल दिखाया गया है।

फूल व फल दोनों का विकास व निर्माण ज़मीन के अंदर भी होता है। इसके एक ही पौधे पर हवाई तथा भूमिगत दोनों तरह के फूल लगते हैं। हवाई फूल छोटे व चेस्मोगेमस अर्थात खिलने वाले होते हैं, जबकि भूमिगत फूल बड़े व क्लिस्टोगेमस अर्थात कभी न खिलने वाले होते हैं। भूमिगत फूलों की तुलना में हवाई फूलों की संख्या बहुत ज़्यादा होती है।

तीन तने, तीन फूल

कोमेलिनेसी कुल के वंश का कोमेलिना जिसे हिंदी में कनकव्वा व बंगाली में कनसीरा के नाम से जाना जाता है, एक सामान्य खरपतवार है जो आमतौर पर बरसात के मौसम में खेतों और घूरों पर पाई जाती है। इसे कान जैसे पतले और आसमानी रंग के छोटे-छोटे फूलों की मदद से आसानी से पहचाना जा सकता है। इस वंश की पांच प्रजातियों में भूमिगत अर्थात न खिलने वाले फूल देखे गए हैं।

कोमेलिना बेंगालेंसिस अर्थात चौड़ी पत्ती वाले कनकव्वा में फूल तीन तरह के तनों पर लगते हैं। पहला प्रकार है हवाई यानी कि गुरुत्व के विपरीत दिशा में जाने वाले तने पर, दूसरा ज़मीन पर रेंगने वाले तने अर्थात गुरुत्व असंवेदी तने पर तथा तीसरा ज़मीन के अंदर वाले तने पर जो गुरुत्व की तरफ संवेदी होता है। ज़मीन के अंदर वाले तने पर पत्तियां नहीं होतीं।
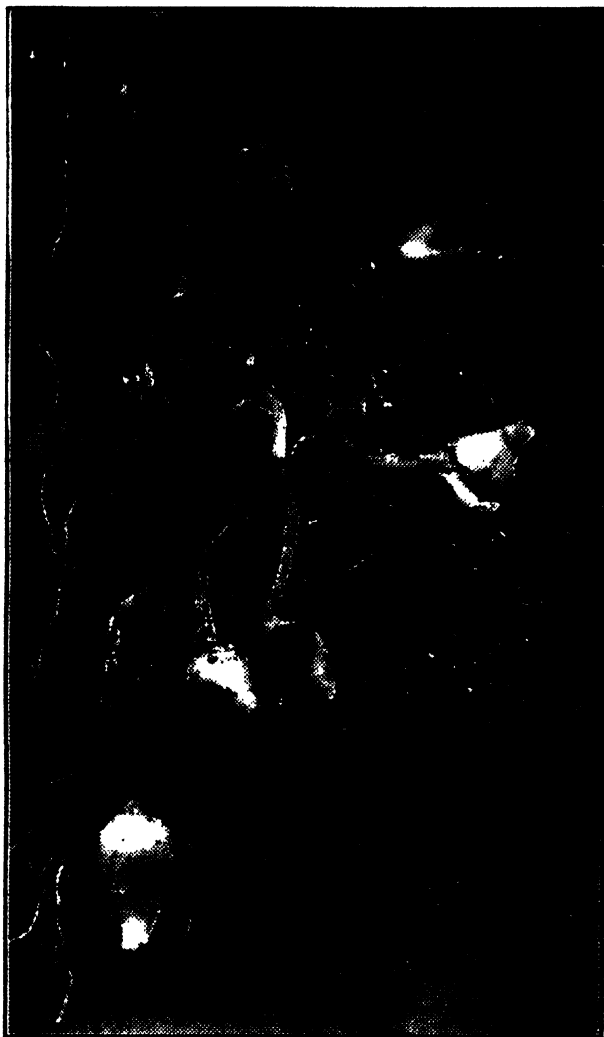
खट्टी बूटी के भूमिगत फूलः खट्टी बूटी के भूमिगत तने और उन पर लगे हुए भूमिगत फूल यहां देखे जा सकते हैं।

तीनों प्रकार के तनों पर लगने वाले फूलों की रचना भी अलग-अलग
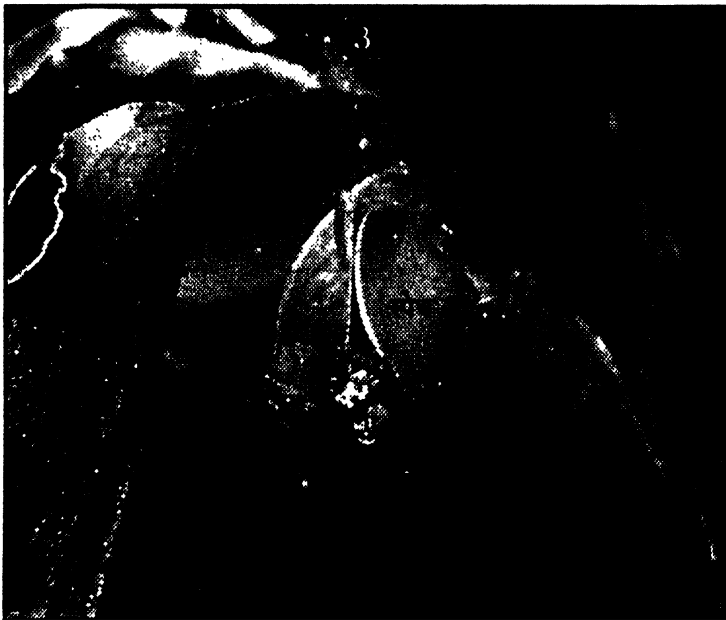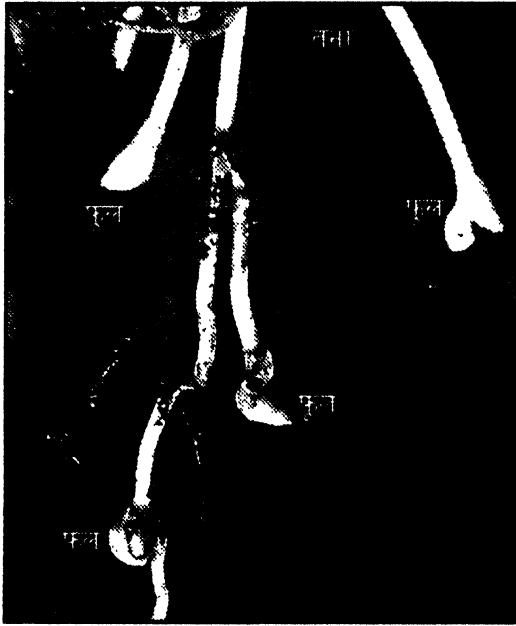
कनकव्वे में भूमिगत फूल, हवाई फूल और स्पेथः पहले फोटो में सफेद रंग का भूमिगत तना दिखाई दे रहा है। तने पर फूल लगे हैं और नीचे की तरफ एक फल भी लगा है। दूसरे और तीसरे फोटो में कनकव्वे के हवाई फूल दिखाई दे रहे हैं। हवाई फूल हरे रंग की नावनुमा आकृति से ढंका हुआ है। इस नाव जैसी आकृति को स्पेथ कहते हैं। कनकव्वे हमारे आसपास भारी तादाद में देखे जाते हैं, इसलिए आप इस पौधे को सावधानी से ज़मीन से बाहर निकालकर इसके हवाई और भूमिगत फूलों की तुलना कर सकते हैं।

स्पेथ

यह एक बड़ी, कभी-कभी बहुत बड़ी, नाव के आकार की रचना होती है जो विशेष प्रकार का अनुपत्र (ब्रेक्ट) है। फूल का गुच्छा इससे ढंका रहता है। केला, अरबी, ताड़ व भुट्टे आदि का पुष्पक्रम स्पेथ से ढंका रहता है। केले में यह गहरे लाल रंग का होता है तथा भुट्टे व कनकव्वे में हरे रंग का होता है। स्पेथ आमतौर पर एकबीजपत्री पौधों में ही पाया जाता है।

होती है। हवाई फूलों का स्पेथ हरा होता है, जबकि भूमिगत फूल का स्पेथ रंगहीन होता है। इनमें लगने वाले फूलों की संख्या व रचना भी अलग होती है।

चौड़ी पत्ती वाले कनकव्वा में भूमिगत व सतही तने पर प्रत्येक स्पेथ में एक-एक द्विलिंगी फूल लगता है, जबकि हवाई तने पर एक स्पेथ में तीन-चार फूल लगते हैं।

हवाई तने पर लगने वाले फूलों में, पहला फूल एकलिंगी तथा चेस्मो-गेमस यानी खिलनेवाला, दूसरा फूल द्विलिंगी तथा चेस्मोगेमस यानी खिलनेवाला, तथा तीसरा फूल द्विलिंगी तथा क्लिस्टोगेमस यानी न खिलने वाला होता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि क्लिस्टोगेमस यानी न खिलने वाले फूल केवल भूमिगत ही नहीं बल्कि ज़मीन के ऊपर भी होते हैं।

सतह पर रेंगने वाले तने के फूल सदैव चेस्मोगेमस यानी खिलने वाले तथा भूमिगत फूल सदैव क्लिस्टोगेमस यानी न खिलने वाले होते हैं।

हवाई-भूमिगत फूलों की तुलना

भूमिगत फूलों में अनिवार्य रूप से स्वपरागण होता है। इन फूलों के विभिन्न अंग आकार में छोटे होते हैं। इनमें अनिवार्य अंगों (पुंकेसर व स्त्रीकेसर) में लगे संसाधनों और अतिरिक्त अंगों (अंखुड़ी व पंखुड़ी) में लगे संसाधनों का प्रतिशत 60:40 के अनुपात में होता है। इन फूलों में स्त्रीकेसर के निर्माण में पुंकेसर की अपेक्षा 20 फीसदी ज़्यादा संसाधन लगते हैं क्योंकि पुंकेसर की तुलना में स्त्रीकेसर का बायोमास (जैवभार) ज़्यादा होता है। इन न खिलने वाले फूलों में परागकणों की संख्या कम होती है किंतु बीज बड़े होते हैं।

इसके विपरीत हवाई फूलों में ज़्यादा संसाधन तो फूल के विज्ञापन (कीटों को आकर्षित करने और उन्हें मकरंद व पराग के रूप में भोजन उपलब्ध कराने) पर खर्च होता है। विज्ञापन में खर्च हुए संसाधन नर फूल में 62 फीसदी और मादा फूल में 42-50 फीसदी तक होते हैं। हवाई द्विलिंगी

कैसे बनते हैं फूल

फूल वस्तुतः एक रूपांतरित तना है। इस बात के समर्थन में कई प्रमाण दिए गए हैं। जैसे तने की ही तरह कुछ फूलों में पर्व और पर्व संधियां (तनों की गांठें) पाई जाती हैं। फूल में पत्तियों जैसी चपटी रचनाएं जैसे अंखुड़ी और पंखुड़ी, चक्र में पत्तियों की तरह लगी होती हैं जो कभी-कभी तो बिल्कुल पत्तियों जैसी ही होती हैं, जैसे गुलाब में। कभी-कभी तो ठीक संयुक्त पत्तियों जैसी। अर्थात वे कलिकाएं जहां से अक्सर पत्ते या शाखाएं निकलती हैं, वे ही पुष्प कलिका में बदलती हैं। परंतु ये कमाल होता कैसे है? आइए ज़रा देखें।

दरअसल पौधों में एक निश्चित सीमा तक वृद्धि होने के पश्चात ही वह फूलना-फलना शुरू करता है। पौधों का इस अवस्था तक पहुंचना Ripe to flower यानी 'फूलने के लिए तैयार' कहा जाता है। फूलने का समय आ गया है इसका पौधों को उचित प्रकाश अवधि, या बहुत कम ताप से गुज़रने पर पता चलता है। कुछ पौधों को फूलने के लिए लंबी अंधेरी रातें चाहिए जैसे गुलदावदी, तो कुछ को लंबे बड़े दिन जैसे गेहूं और चना। ठंडे स्थानों पर उगने वाले पेड़ों व पौधों जैसे सेवफल को इसके लिए बर्फ जितने निम्न तापमान से गुज़रना ज़रूरी होता है। रेगिस्तानी पौधों में फूल आना पर्याप्त मात्रा में बारिश होने पर निर्भर रहता है।

जब खिलते हैं फूल

कारण कुछ भी हो, फूलने के जैव-रासायनिक संकेत मिलते ही पौधा फूलने-फलने की रासायनिक तैयारी करना शुरू कर देता है जिसकी परिणति पुष्प कलिकाओं के रूप में होती है। ऐसे में पौधे के तने पर पत्तियों की कोख (कक्ष) में जहां कुछ समय पूर्व, पर्ण कलिकाएं आ रही थीं उनके स्थान पर अब पुष्प कलिकाएं आने लगती हैं। माना गया है कि पौधे के फूलने का यह हरा सिग्नल हारमोन के रूप में मिलता है जिन्हें फ्लोरोजेन और वर्नेलिन नाम दिया गया है।
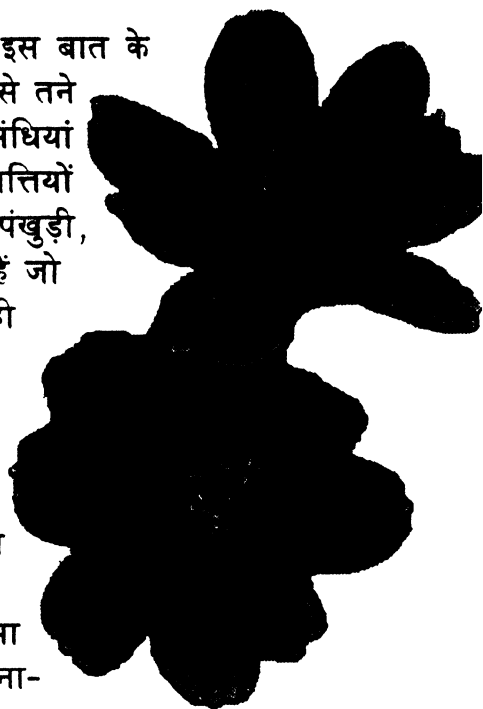
एक बार यह तय हो जाने पर कि फूलने का समय आ गया है पौधों की कलिक़ाओं की कोशिकाओं में ऐसे जैव-रासायनिक परिवर्तन होते हैं जो फूलों के निर्माण में सहायक होते हैं। जैसे पंखुड़ियों को रंगीन बनाने के लिए विभिन्न रंजक यानी एन्थोसायनिन, केरोटीनाइड्स और फ्लेवोनाइड्स; पुंकेसरों में परागकणों और अण्डाशय में बीजाण्डों को बनाने के लिए ढेर सारा नया आनुवंशिक पदार्थ, विशेष प्रकार के प्रोटीन; फूलों को सुगंधित करने हेतु विभिन्न प्रकार के वाष्पशील ऐरोमेटीक पदार्थ; कीटों, पतंगों, पक्षियों को आकर्षित करने के लिए ढेर सारा मीठा सुगंधित मकरंद।

ये सभी परिवर्तन एक पर्ण कलिका को पुष्प कलिका में बदल देते हैं। पुष्प कलिका में एक और विशेषता होती है – इसकी वृद्धि निश्चित होना। पुष्प कलिका में कोशिकाओं की पुनः विभाजन क्षमता पर रोक लग जाती है जो निषेचन के पश्चात भ्रूण बनने पर पुनः स्थापित हो जाती है।

– किशोर पंवार

फूल में प्रजनन कार्य पर जितने संसाधन लगते हैं उसमें से 56 से 61 फीसदी नर प्रजनन कार्य पर खर्च होते हैं। इससे ज़ाहिर होता है कि हवाई फूलों में भूमिगत फूलों की तुलना में अतिरिक्त अंगों के द्वारा विज्ञापन पर ज़्यादा संसाधन खर्च होते हैं।

द्विलिंगी हवाई फूलों में परागकोष से परागकण निकलना और अंडाशय का इन्हें स्वीकार करने हेतु तैयार होना साथ-साथ ही होता है। इसलिए ये फूल स्वपरागण के लिए उपयुक्त होते हैं किंतु इनमें पर-परागण की संभावना भी रहती है क्योंकि इन फूलों की पंखुड़ियां नीले रंग की एवं पुंकेसर पीले रंग के होते हैं। अतः इन फूलों पर कीट भी काफी संख्या में मंडराते हैं। हवाई फूलों में परागकणों की संख्या भी भूमिगत फूलों की तुलना में कहीं ज़्यादा होती है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि भूमिगत फूलों के ज़रिए संसाधनों की खपत के मान से प्रजनन काफी सस्ता है और ज़्यादा सुनिश्चित भी। इस लिहाज़ से भूमिगत तौर पर उत्पन्न बीज सस्ते होते हैं। इसके बावजूद यदि प्राकृतिक चयन हवाई फूलों के विरुद्ध नहीं रहा है और आज भी इन पौधों पर हवाई फूल लगते हैं तो इसका कारण यह है कि ये हवाई फूल पर-परागण के ज़रिए आनुवंशिक विविधता को बढ़ावा देते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि प्रजाति विशेष के लिए भूमिगत फूलों

के महत्व की वजह से ये फूल, हवाई फूलों से काफी पहले लग जाते हैं। उनका कहना है कि अत्यन्त विपरीत व लगातार बदलने वाले माहौल के लिए शायद इन प्रजातियों में 'निराशावादी' रणनीति का विकास हुआ है। विशेष तौर पर जब वृद्धि का एक वार्षिक चक्र पूरा कर पाने में भी अनिश्चितता हो। ऐसी स्थितियों में पौधे के लिए जल्दी फल पैदा करना फायदेमंद होगा। इसके विपरीत हवाई फूल लगना एक 'आशावादी' रणनीति की तरह देखा जाना चाहिए जिसमें प्रजनन तब तक के लिए मुल्तवी रहता है जब तक कि वृद्धि के दौर से गुज़रते हुए पौधे ने अपने आप में पर्याप्त संसाधन एकत्र न कर लिए हों।

भूमिगत फूलों का विकास

एम्फीकार्पी के विकास को किन कारकों ने बढ़ावा दिया है, यह सवाल अनुत्तरित है। इस बारे में कई परिकल्पनाएं प्रस्तुत की गई हैं। यह स्पष्ट है कि एम्फीकार्पी विभिन्न परस्पर असंबंधी प्रजातियों में विकसित हुई है। अतः संभावना इस बात की है कि इसका विकास कई अलग-अलग कारकों की वजह से हुआ होगा।

1. एक परिकल्पना यह है कि भूमिगत बीजों का अनुकूलन की दृष्टि से यह महत्व है कि ये बीज व इनसे उत्पन्न पौधे उसी सूक्ष्म आवास में बने रहते हैं जो संभवतः इनके लिए उपयुक्त हैं, किंतु एक प्रयोग में एम्फीकार्पम पुर्शाई के भूमिगत बीजों के अंकुरण पर इस बात का कोई असर नहीं देखा गया कि उन्हें मूल पौधे के पास बोया गया या काफी दूर।
2. एक विचार यह भी है कि ये भूमिगत बीज बाहरी पर्यावरण के उतार-चढ़ाव से बचे रहते हैं। इस परिकल्पना के समर्थन में बताया जाता है कि एम्फीकार्पम पुर्शाई तथा कनकव्वा के भूमिगत बीजों को सतह पर बिखेरा जाए तो वे अंकुरित नहीं हो पाते। परंतु साधारण जलवायु के पौधों में एम्फीकार्पी के विकास को समझाने में यह परिकल्पना नाकाम रहती है।
3. इस संदर्भ में एक विचार यह भी है कि चरने वाले जंतुओं के दबाव के चलते भूमिगत बीजों का विकास संभव है परंतु इस संबंध में तुलनात्मक जानकारी का अभाव है।
4. भूमिगत बीज उत्पादन से पौधे को एक फायदा यह हो सकता है कि समय-समय पर होने वाली पर्यावरणीय उथल-पुथल के खतरों से ये पौधे सुरक्षित रहते हैं। कुछ उदाहरणों में यह बताया गया है कि एम्फीकार्पी का विकास संभवतः आग से बचाव प्रदान करता है।

उपरोक्त सभी परिकल्पनाएं इस विचार को बल देती हैं कि भूमिगत प्रजनन के लाभ हैं। सवाल यह है कि ऐसे एम्फीकार्पिक पौधे हवाई बीज उत्पन्न ही क्यों करते हैं? क्या भूमिगत प्रजनन की सीमाओं से बचने के लिए? इस संदर्भ में भूमिगत फूलों का महत्व समझने के लिए और जानकारी की आवश्यकता है।

यह भी गौरतलब है कि जिन 36 प्रजातियों में एम्फीकार्पी विकसित हुई वे मुख्यतः खरपतवार हैं। उल्लेखनीय है कि खरपतवार ऐसे पौधे हैं जिनका अत्यंत विषम आवासीय परिस्थितियों एवं पर्यावरण में विकास हुआ है। इनमें गजब की अनुकूलन क्षमता पाई जाती है। इसी कारण खेती में इनसे छुटकारा पाना भी मुश्किल होता है। अतः लगता है कि भूमिगत फूलों का विकास खरपतवारों की जीवटता एवं अनुकूलन का एक और शानदार उदाहरण है। इस दृष्टिकोण से भी भूमिगत फूलों के विकास एवं महत्व पर विचार किया जाना चाहिए।

वीणु कौल, ए. के. कौल एवं एम. सी. शर्मा: जम्मू विश्वविद्यालय में वनस्पतिशास्त्र विभाग में कार्यरत हैं।

किशोर पंवार: शासकीय महाविद्यालय, सेंधवा, म. प्र. में वनस्पतिशास्त्र पढ़ाते हैं।

समस्त फोटो: के. आर. शर्मा द्वारा खींचे गए हैं। के. आर. शर्मा एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम से संबद्ध। उज्जैन में रहते हैं।

यह लेख करंट साइंस के 10 जनवरी, 2000 अंक में छपे लेख 'द अंडरग्राउंड फ्लॉवर' (वीणु कौल, ए. के. कौल और एम. सी. शर्मा) के आधार पर तैयार किया गया है।

सीखना-सिखाना

- बाल वैज्ञानिक – कक्षा 6, 7, 8
- सामाजिक अध्ययन – कक्षा 6, 7, 8
- खुशी–खुशी – कक्षा 1 से 5
- बच्चे असफल कैसे होते हैं
- सीखना–सिखाना
- सामाजिक अध्ययन शिक्षण : रपट
- विज्ञान क्या है
- इतिहास क्या है
- प्रश्न बैंक
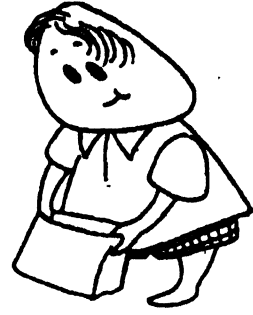
जन विज्ञान

- टिकाऊ खुशहाली
- बोल अरी ओ धरती बोल
- जवाब दर सवाल
- जनविज्ञान का सवाल
- बेटी करे सवाल
- बोलो तुम क्या चुप बैठोगे
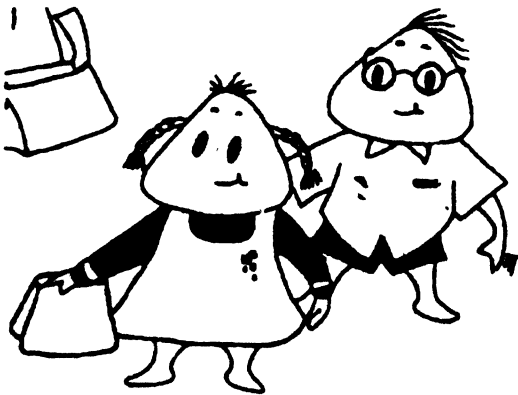
एकलव्य की नियमित पत्रिकाएँ

चकमक

मासिक बाल विज्ञान पत्रिका

वार्षिक सदस्यता शुल्क रु. 100.00

स्रोत

विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स

वार्षिक सदस्यता शुल्क रु. 150.00

संदर्भ

द्वैमासिक पत्रिका

वार्षिक सदस्यता शुल्क रु. 50.00

विस्तृत जानकारी के लिए सम्पर्क:

एकलव्य, ई-1/25 अरेरा कॉलोनी,
भोपाल – 462016 म. प्र.
फोन-563380, फैक्स-561703

पानी की कठोरता

सिर्फ झाग की समस्या नहीं

सुशील जोशी

पानी की कठोरता एक ऐसा गुण है जिसे परखना काफी आसान है। जब किसी पानी में साबुन झाग न दे, तो वह पानी कठोर है। जब पानी, साबुन और झाग की बात होती है तो कई सवाल उठते हैं; जैसे झाग क्या है, क्यों बनता है, वैसे ही पानी को हिलाएं तो झाग क्यों नहीं बनता, साबुन में ऐसी क्या बात है कि वह झाग बनाता है, और कौन-सी ऐसी झाग बनाने वाली चीज़ें हैं वगैरह। प्रश्नों का दूसरा समूह है कि सफाई में झाग का क्या महत्व है, कठोर पानी झाग क्यों नहीं देता वगैरह। प्रश्नों का तीसरा समूह यह है कि क्या कठोर पानी के कोई अन्य गुणधर्म भी हैं। जैसे क्या दाल पकने और झाग बनने का कोई आपसी संबंध है? और अंत में सवाल आता है कि कहीं का पानी कठोर हो तो क्या करें?
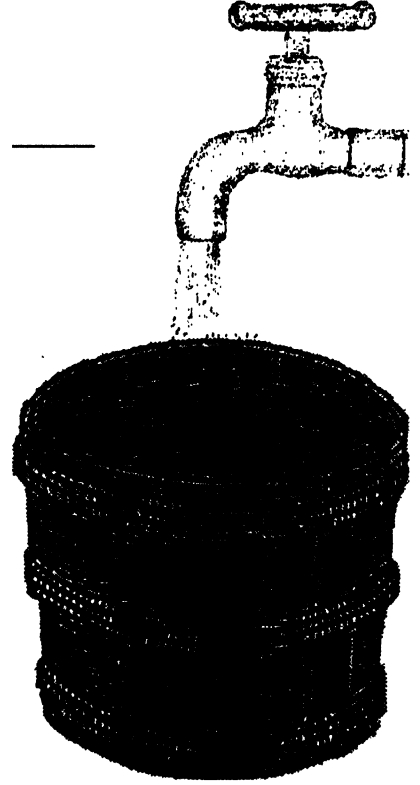
किन्तु झाग से इस लेख का संबंध मात्र इतना है कि झाग कठोरता की पहचान के लिहाज़ से उपयोगी है। जो पाठक इस लेख में साबुन व झाग के विश्लेषण की उम्मीद कर रहे हैं वे शायद निराश ही होंगे। पानी में कठोरता मूलतः कैल्शियम व मैग्नीशियम के लवणों के कारण उत्पन्न

होती है। इनके कुछ लवण पानी में पर्याप्त घुलनशील हैं जबकि कुछ अत्यल्प मात्रा में घुलनशील हैं।

तरह-तरह की कठोरता

अलग-अलग लवणों के घुले होने के कारण अलग-अलग किस्म की कठोरता उत्पन्न होती है। कठोरता का वर्गीकरण करने का महत्व यह है कि अलग-अलग किस्म की कठोरता अलग-अलग ढंग से प्रभाव डालती है और कई बार उससे निपटने के तरीके भी अलग-अलग होते हैं।

सर्वप्रथम तो कुल कठोरता की बात कर लें। पानी में उपस्थित कुल कैल्शियम, मैग्नीशियम लवणों की मात्रा को हम उसकी कुल कठोरता कहते हैं। यहां समस्या यह उठती है कि इन दो धातुओं के तमाम किस्म के लवण पानी में घुले हो सकते हैं। फिर इनकी कुल मात्रा कैसे बताएं क्योंकि मैग्नीशियम के किसी लवण की 0.5 ग्राम और कैल्शियम के किसी लवण की 0.5 ग्राम मात्रा वज़न में तो बराबर है किन्तु कठोरता की दृष्टि से ये दोनों बराबर नहीं हैं।

एक उदाहरण से इस बात को समझ लेते हैं। मान लीजिए हमारे पास पानी के दो नमूने हैं: 'क' और 'ख'। दोनों एक-एक लीटर हैं। 'क' नमूने में 0.5 ग्राम कैल्शियम क्लोराइड और 'ख' नमूने में 0.5 ग्राम मैग्नीशियम सल्फेट घोला गया है। क्या दोनों नमूनों की कठोरता एक समान होगी? मान लीजिए कि हम साबुन का एक घोल बना लेते हैं। अब 'क' व 'ख' दोनों में बूंद-बूंद करके यह घोल डालते हैं। साबुन के साथ लवणों की क्रिया होगी। जब तक लवण शेष है तब तक झाग नहीं बनेगा। क्या दोनों घोलों में लवण को समाप्त करने के लिए बराबर-बराबर साबुन लगेगा?

यदि दोनों में बराबर साबुन नहीं लगता तो हम कहेंगे कि दोनों घोल में कठोरता की मात्रा अलग-अलग है। सचमुच होता भी यही है। ऐसी स्थिति में यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि दोनों घोल की कठोरता 0.5 ग्राम प्रति लीटर है।

तो कैसे व्यक्त करें कठोरता की मात्रा? इसका एक तरीका खोजा गया है। हम कठोरता को मात्र कैल्शियम कार्बोनेट की मात्रा के रूप में व्यक्त करते हैं – चाहे उस पानी में कठोरता किसी भी लवण की वजह से हो।

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हमें यह पता लगाना होगा कि कठोरता के लिहाज़ से किसी लवण की कितनी मात्रा एक ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट के बराबर है।

उदाहरण के लिए:

1 ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट

= 1.62 ग्राम कैल्शियम बाइकार्बोनेट

= 1.2 ग्राम मैग्नीशियम सल्फेट

यदि 1 लीटर पानी में 0.5 ग्राम मैग्नीशियम सल्फेट घुला है तो उसकी कठोरता 0.41 ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट के बराबर होगी। तो अब हम समस्त कठोरता को ग्राम कैल्शियम कार्बोनेट प्रति लीटर या मिलीग्राम कैल्शियम कार्बोनेट प्रति लीटर जैसी इकाइयों में व्यक्त कर सकते हैं।

मिलीग्राम प्रति लीटर में व्यक्त करना ज़्यादा सुविधाजनक है क्योंकि प्राय: कठोरता मिलीग्राम रेंज में होती है। इसका एक फायदा और भी होता है। 1 लीटर पानी यानी 1 किलोग्राम = 1000 ग्राम = 10^6 मिलीग्राम। इसलिए यदि 10^6 (मिलियन मिलीग्राम) पानी में X मिलीग्राम कठोरता है तो इसे सीधे-सीधे अंश प्रति मिलियन (पी.पी.एम – पार्ट्स पर मिलियन) भी कह सकते हैं।

संक्षेप में ध्यान रखने की बात यह है कि कठोरता को हम कैल्शियम कार्बोनेट के रूप में व्यक्त करते हैं। जो भी लवण कठोरता उत्पन्न करते हों, उन सबके द्वारा उत्पन्न कठोरता को कैल्शियम कार्बोनेट की इकाई में व्यक्त किया जाए तो यह कुल कठोरता हुई। इसके बाद आते हैं कठोरता के वर्गीकरण पर।

स्थाई-अस्थाई कठोरता

मान लीजिए हम किसी पानी की कठोरता नाप लें (कैल्शियम कार्बोनेट की इकाई में)। इसका यह मतलब नहीं है कि उस पानी में सिर्फ कैल्शियम कार्बोनेट के कारण कठोरता पैदा हो रही है। अब इस पानी को कुछ समय के लिए उबालकर ठण्डा करके छान लेते हैं और फिर से कठोरता नापते हैं। मान लीजिए कठोरता पहले से कम हो जाती है। जो कठोरता पानी को उबालने के बाद भी बची रहे उसे स्थाई कठोरता कहते हैं। और उबालने पर जो कठोरता दूर हो जाए उसे अस्थाई कठोरता कहते हैं।

अस्थाई कठोरता कैल्शियम, मैग्नीशियम के बाइकार्बोनेट लवणों के कारण होती है। ये लवण काफी अस्थिर प्रकृति के होते हैं तथा गर्म करने या उबालने पर विघटित होकर कार्बोनेट में तब्दील हो जाते हैं। कार्बोनेट अघुलनशील होने के कारण अवक्षेपित हो जाते हैं।

जो कठोरता कार्बोनेट व बाइ-कार्बोनेट की उपस्थिति की वजह से होती है, उसे कार्बोनेट कठोरता कहते हैं। इसके अतिरिक्त शेष कठोरता को गैर-कार्बोनेट कठोरता कहते हैं।

कठोरता के असर

घरेलू व औद्योगिक उपयोग के लिए कठोर पानी का उपयोग करें तो कई समस्याएं आती हैं। इनमें से एक समस्या से तो सभी परिचित हैं। वह समस्या है कपड़े धोने की। ऐसा बताते हैं कि यदि पानी में 350 मि. ग्रा.

प्रति लीटर कठोरता हो, तो प्रति लीटर पानी पर आपको लगभग ढाई ग्राम साबुन ज़्यादा खर्च करना होगा। लगातार कठोर पानी में धोए जाने पर कपड़े चलते भी कम हैं। बताते हैं कि कपड़ा कैल्शियम व मैग्नीशियम के लवण अवशोषित करता है, इस वजह से रेशे खराब हो जाते हैं।

बहरहाल, कपड़ा धोने की समस्या का समाधान तो डिटर्जेंट ने कर दिया है। इसलिए इस पर ज़्यादा सिर खपाने की ज़रूरत नहीं है। ऐसी भी रिपोर्ट है कि कठोर पानी में खाना पकने में समय ज़्यादा लगता है। मांसाहारियों के लिए बुरी खबर यह है कि कठोर पानी में मांस पकाने में एक दिक्कत यह है कि मांस का जो प्रोटीन निकलकर पानी में आता है वह अघुलनशील हो जाता है तथा शरीर में इसका पाचन नहीं हो पाता। वैसे यह कितनी हद तक होता है, कहना मुश्किल है।

जब कठोरता के स्वास्थ्य संबंधी असर की बात चली है, तो यह कहना मुनासिब है कि इस बाबत कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं हुए हैं। कई वर्षों पूर्व एक अध्ययन हुआ था जिसमें निष्कर्ष यह था कि अत्यधिक मृदु पानी पीने वालों में हृदय रोग थोड़े ज़्यादा होते हैं किन्तु अध्ययन-कर्त्ताओं ने साथ ही यह भी कहा था कि इसका मतलब यह नहीं है कि सप्लाई से पूर्व पानी को कठोर बनाया जाए।

औद्योगिक दृष्टि से देखें तो पानी की कठोरता एक प्रमुख समस्या के रूप में सामने आती है। आप जानते ही हैं कि उद्योगों में पानी का काफी इस्तेमाल होता है। कई उद्योगों में बॉयलर लगे होते हैं जहां पानी को उबाला जाता है।

सबसे पहली समस्या तो यह आती है कि कठोर पानी का उपयोग किया जाए तो बॉयलर की दीवारों पर एक पपड़ी जमा होने लगती है। यह वैसे तो आम अनुभव भी है। मसलन होशंगाबाद तथा नर्मदा किनारे के अन्य शहरों-गांवों में जिस बर्तन में पानी उबाला जाता है उसमें एक सफेद पपड़ी बन जाती है। यह पपड़ी प्रायः अस्थायी कठोरता की वजह से बनती है। भद्दी दिखने के अलावा इस पपड़ी के कई अन्य असर हैं।

पपड़ी की पहली समस्या यह है कि यह पपड़ी कैल्शियम बाइकार्बोनेट के विघटन से बने कैल्शियम कार्बोनेट की होती है। इसकी ऊष्मा चालकता कम होती है जिसकी वजह से बॉयलर में ईंधन की खपत बढ़ जाती है।

पपड़ी की दूसरी समस्या है – पपड़ी चूंकि ऊष्मा की कुचालक होती है इसलिए पपड़ी के नीचे धातु अत्यधिक गर्म हो जाती है। इसे सुपर हीटिंग कहते हैं। यदि पपड़ी एक समान मोटाई

की न हो तो बॉयलर व ट्यूब में जगह-जगह पर फ़फोले बनने लगते हैं व दरारें पड़ने लगती हैं।

पपड़ी की तीसरी समस्या – पपड़ी में कई जगह दरारें होती हैं। भाप इनमें घुस जाती है और बॉयलर के लोहे से क्रिया करती है, जिससे हायड्रोजन उत्पन्न होती है। यदि पानी में सल्फेट लवण हैं तो हायड्रोजन इनसे क्रिया करके हायड्रोजन सल्फाइड बनाती है जो बॉयलर को क्षति पहुंचाती है।

लिहाज़ा कठोर पानी का उपयोग करें तो समय-समय पर बॉयलर को बंद करके पपड़ी खुरचना होती है। बॉयलर को बंद करके फिर से चालू करना भी काफी खर्चीला काम है।

कठोरता पैदा करने वाले लवणों में मैग्नीशियम के लवण भी होते हैं। मैग्नीशियम के लवणों के जल अपघटन से पानी की अम्लीयता बढ़ती है। दूसरे शब्दों में, पानी में हायड्रोजन आयनों की सांद्रता बढ़ती है। ये हायड्रोजन आयन बॉयलर को क्षति पहुंचाते हैं।

कठोरता से निपटना

अव्वल तो यदि किसी स्रोत का पानी अत्यंत कठोर है तो बेहतर होगा कि पानी का अन्य स्रोत तलाश लिया जाए। कठोर पानी को बड़े पैमाने पर मृदु बनाना काफी खर्चीला सौदा है। भाप इंजिनों के ज़माने में यही किया जाता था कि इंजिन में पानी भरने के

कठोरता दूर करने की रासायनिक विधियां

पानी में अगर बुझा हुआ चूना डाला जाए तो कैल्शियम व मैग्नीशियम के लवण उससे क्रिया करके अवक्षेपित हो जाते हैं। आपने शायद ध्यान न दिया हो मगर ध्यान देने की बात है कि बुझा हुआ चूना वास्तव में कैल्शियम हायड्रॉक्साइड होता है। यानी आप पानी में से कैल्शियम-मैग्नीशियम को दूर करने के लिए ऊपर से कैल्शियम डाल रहे हैं। लिहाज़ा कितना चूना डाला (लगाया) जाए इसका आकलन बहुत सावधानी से करना होता है, अन्यथा कठोरता घटने की बजाए बढ़ भी सकती है। पूरी प्रक्रिया में चूना डालने के बाद अवक्षेप को हटाना एक पेचीदा तकनीकी काम है। अभी हम इसकी टेक्नॉलॉजी में नहीं जा रहे हैं। रासायनिक क्रियाएं निम्नानुसार हैं:

$$Ca(HCO_3)_2 + Ca(OH)_2 \rightarrow 2\,CaCO_3 + 2H_2O$$

$$Mg(HCO_3)_2 + Ca(OH)_2 \rightarrow Mg(OH)_2 + Ca(HCO_3)_2$$

$$Ca(HCO_3)_2 + Ca(OH)_2 \rightarrow 2\,CaCO_3 + 2\,H_2O$$
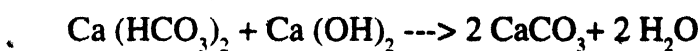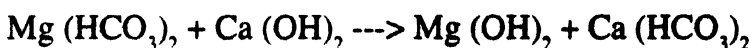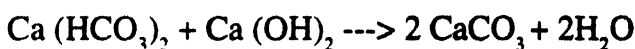
(अगले पृष्ठ पर जारी)

इस विध्रि से मुख्यत: कैल्शियम कठोरता दूर की जाती है। यदि कठोरता गैर-कार्बोनेट किस्म की है तो ऐसे पानी में कपड़े धोने का सोड़ा भी डालना होता है:

$$Ca\,SO_4 + Na_2\,CO_3 \dashrightarrow Ca\,CO_3 + Na_2\,SO_4$$
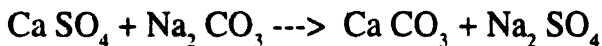
लगभग यही असर कॉस्टिक सोड़ा (NaOH) से भी हासिल किया जा सकता है।

$$Ca\,(H\,CO_3)_2 + 2Na\,OH \dashrightarrow Ca\,CO_3 + Na_2\,CO_3 + 2H_2O$$

$$Mg\,(HCO_3)_2 + 4\,NaOH \dashrightarrow Mg\,(OH)_2 + 2Na_2\,CO_3 + 2H_2O$$
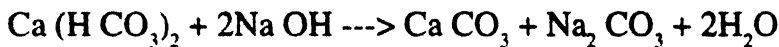
इन क्रियाओं में कपड़े धोने का सोड़ा (Na_2CO3) बनता है। यह अन्य गैर-कार्बोनेट कठोरता को दूर कर देता है।

परन्तु ऊपर वर्णित विधियों की एक समस्या है। आपने भी गौर किया होगा कि इनमें कठोरताजनक लवणों का स्थान अन्य लवण ले लेते हैं। अत: पानी की कठोरता तो दूर हो जाती है किन्तु लवणों की कुल मात्रा कम नहीं होती। यदि कठोरता दूर करने के साथ-साथ लवणों की कुल सान्द्रता भी कम करनी है तो इसके लिए बेरियम हायड्रॉक्साइड का इस्तेमाल किया जाता है। परंतु बेरियम के लवण बहुत महंगे होते हैं।

स्थान सावधानीपूर्वक चुने जाते थे। उस समय देश के कई स्टेशनों का महत्व मात्र पानी की मृदुता के कारण था। कठोरता दूर करने की कई भौतिक व रासायनिक विधियां उपलब्ध हैं। (रासायनिक विधियां बॉक्स में)

एक भौतिक विधि की चर्चा तो प्रकारांतर से हो ही चुकी है। यदि पानी को गर्म किया जाए तो कार्बोनेट कठोरता कम की जा सकती है।

इसके अलावा एक विधि आयन आदान-प्रदान की भी है। ऐसे आयन विनिमय पदार्थ उपलब्ध हैं जो कैल्शियम व मैग्नीशियम के आयनों को सोखकर उनके बदले पानी में अन्य आयन घोल देते हैं। इस विधि का इस्तेमाल करके भी पानी को मृदु बना सकते हैं।

सुशील जोशी: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम व स्रोत फीचर सर्विस से जुड़े हैं। साथ ही स्वतंत्र विज्ञान लेखन एवं अनुवाद करते हैं।

परिधि का त्रिज्या से संबंध
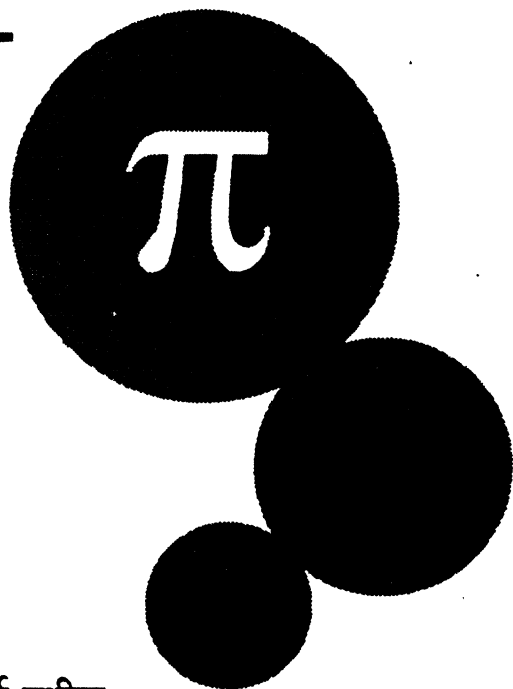
जुई दधीच

पाई का सबसे पहला परिचय वृत्त का क्षेत्रफल निकालने के सूत्र में होता है। यह पाई आया कहां से और उसका मान कैसे निर्धारित किया गया?

सातवीं, आठवीं कक्षा में गणित में वृत्त का क्षेत्रफल ज्ञात करने का सूत्र $\pi \times (\text{त्रिज्या})^2$ सिखाया गया था। यह भी सिखाया गया था कि π का मान 3.14 या 22/7 होता है। यहां तक तो ठीक था और ये दोनों बातें दिमाग में फिट हो गईं। किंतु π एक स्थिरांक है ऐसा उस समय शिक्षक ने बताया भी होगा तो भी स्थिरांक का चक्कर तो सिर के ऊपर से ही निकल गया होगा।

मुझे नहीं लगता कि स्थिरांक की अवधारणा आठवीं-नवीं कक्षा के स्तर पर समझाना कोई कठिन काम है, किंतु मेरा अनुमान है कि इसके लिए पर्याप्त समय नहीं दिया जाता। सातवीं, आठवीं तक मेरा दिमाग इतना भोथरा हो गया था कि 'इस π की खोज किसने की होगी?', 'किन लोगों के दिमाग में यह कल्पना उभरी होगी?' 'इसे π चिन्ह ही क्यों दिया गया?' ऐसे प्रश्न मेरे मन में उभरे ही नहीं।

ऐसा याद नहीं पड़ता कि शिक्षकों से या घर पर कभी इसके बारे में पूछा हो।

वृत्त का क्षेत्रफल = $\pi \times$ (त्रिज्या)^2 और $\pi = 22/7$, ये दो बातें पता चल जाने पर वृत्त का क्षेत्रफल ज्ञात करना बहुत ही आसान है, ऐसा उस समय ज़रूर लगा होगा। किंतु अब गणित पढ़ाना शुरू करने पर 'पाई' के उद्गम के बारे में प्रश्न मन में उठने लगे। अतः इस विषय पर कुछ पढ़ा और उसी का सारांश इस लेख में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रही हूं।

पाई का सफरनामा

गणित और विज्ञान के सूत्रों में हमेशा उपयोग में लाए जाने वाले π का इतिहास उतना ही रोचक है जितना मानव का इतिहास। इस इतिहास में एक तरफ आर्किमिडीज़ ने गणितीय अवधारणाओं के आधार पर निकाले π के मान की कहानी है, तो वर्तमान समय में संगणक यानी कम्प्यूटर की सहायता से π का शुद्ध मान कैसे ज्ञात किया जाए इसकी समस्या है। इस इतिहास में ईसा पूर्व तीसरी सदी में मिस्र की अलेक्ज़ांड्रिया विद्यापीठ में मानव द्वारा खोजी गई गणित और विज्ञान की मूलभूत अवधारणाओं की गाथा है, तो स्थापित व्यवस्था के खिलाफ उस समय के अनुसंधानकर्ताओं को अपनी बात प्रमाणित करने के लिए किस तरह लड़ाई लड़नी पड़ी, इसकी व्यथा भी है।

हम इस लेख में इतिहास के बिल्कुल शुरुआती दौर से कुछ अधिक पहचान करने वाले हैं। इसके दो कारण हैं। पहला कारण है कि आगे चलकर π का मान ज्ञात करने की विधि का गणित जटिल होता जाता है और दूसरा कि पाठक इस तथ्य से परिचित हो जाएं कि साधारण-सा दिखने वाला π कितनी मुसीबतों से गुज़रा है। इस विषय में अधिक रुचि रखने वालों को और बहुत-सी पठन सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

ईसा-पूर्व 2000 तक मनुष्य ने अपने अवलोकनों को सिद्धांत के साथ जोड़कर समानुपात की अवधारणा को स्पष्ट कर लिया था। दो संख्याओं में समान अनुपात होने का अर्थ है कि एक संख्या को दुगनी, तिगुनी, चौगुनी या आधी करने पर दूसरी संख्या भी दुगनी, तिगुनी, चौगुनी या आधी हो जाती है। दो समानुपाती संख्याओं का मान इस तरह कितना ही बढ़ाया जाए, उनके मानों का अनुपात स्थिर रहता है। इस अनुपात को आज हम भाग की क्रिया के द्वारा आसानी से ज्ञात कर लेते हैं, किंतु विशेषज्ञों का मानना है कि पुराने समय में इसे ज्यामिति की सहायता से ज्ञात किया जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि π की यात्रा समानुपात की अवधारणा से

23 וַיַּעַשׂ אֶת־הַיָּם מוּצָק עֶשֶׂר
בָּאַמָּה מִשְּׂפָתוֹ עַד־שְׂפָתוֹ עָגֹל ׀ סָבִיב וְחָמֵשׁ בָּאַמָּה
קוֹמָתוֹ וְקוֹה שְׁלֹשִׁים בָּאַמָּה יָסֹב אֹתוֹ סָבִיב׃

ईसा पूर्व 550 में 'ओल्ड टेस्टामेंट' (बाइबल) में भी π के अनुपात का उल्लेख है। हिब्रू भाषा की ऊपर लिखी पंक्तियों के अनुसार 'जिसकी परिधि की लंबाई तीन हाथ होती है उसका व्यास एक हाथ लंबा होता है।'

प्रारंभ हुई। वृत्त की परिधि और व्यास में एक निश्चित संबंध होता है, यह गणितज्ञों को पता चल गया था। यह भी स्पष्ट हो गया था कि छोटे से छोटे और बड़े से बड़े वृत्तों की परिधि और व्यास का अनुपात एक ही होता है। फिर यह गणितीय सूत्र बनाया गया: परिधि/व्यास = स्थिरांक। किंतु इस स्थिरांक को π का नाम तो सन् 1800 के बाद ही दिया गया।* पता चला है कि मिस्र और बेबिलोन के वैज्ञानिकों को इस स्थिरांक, जिसे हम आज π कहते हैं, की जानकारी थी और उन्होंने उसका मान भी पता कर लिया था। बेबिलोन के लोग π का मान $3\frac{1}{8}$ और मिस्र के लोग $4 \times (8/9)^2$ मानते थे। इस बारे में ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं है कि ये मान कैसे प्राप्त किए गए, पर इस संबंध में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

पाई का मान निकालना

कल्पना कीजिए कि आप गणित में रुचि रखने वाले, ईसा पूर्व 2000 के मिस्र के नागरिक हैं। आजकल प्रयोग की जा रही मापन पद्धति और मापन के साधन आपके पास नहीं हैं। इसलिए कम्पास, कागज़, पेंसिल, आदि के इस्तेमाल का सवाल ही नहीं उठता। आपके पास हैं – केवल रस्सी, लकड़ी की खूंटियां और ज़मीन। अब इस सामग्री के आधार पर π का मान पता करेंगे।

सबसे पहले आपने नील नदी के किनारे रेत की एक समतल और सूखी पट्टी ढूंढी। एक स्थान पर लकड़ी की खूंटी गाड़ दी और उससे रस्सी बांध कर रस्सी के दूसरे सिरे पर लकड़ी की छोटी, नुकीली खूंटी बांध दी। अब आपने रस्सी को कस कर पकड़ा और नुकीली खूंटी की सहायता से रेत में

** पाई ग्रीक वर्णमाला का एक अक्षर है। गणित में विभिन्न सूत्रों या राशियों के लिए अलग -अलग ग्रीक अक्षरों को इस्तेमाल करने की प्रथा है। इसी तारतम्य में वृत्त की परिधि और व्यास के अनुपात के लिए π का प्रयोग किया जाता है।*

पाई का मान: रस्सी और खूंटी की मदद से एक वृत्त खींच लीजिए। उसके बाद एक रस्सी को परिधि पर किसी बिंदु A पर इस तरह रखते हैं कि वह केन्द्र से गुज़रती हुई वृत्त की परिधि को B पर छुए। रस्सी का यह टुकड़ा AB काट लेते हैं और फिर इससे परिधि को नापते हैं। रस्सी का टुकड़ा A पर रखने पर पहली बार C तक पहुंचता है, दूसरी बार D तक और तीसरी बार E तक। इस तरह परिधि पर A C D E निशान लगाते जाते हैं। वृत्त की परिधि, वृत्त के व्यास से तीन गुने से कितनी ज़्यादा है यह पता करने के लिए हिस्से EA को रस्सी से नापकर उससे AB रेखा पर समान दूरी पर E_1, E_2, ... निशान लगाते जाइए। चित्र से स्पष्ट है कि इस हिस्से यानी EA रेखा का मान वृत्त के व्यास के 1/7 व 1/8 वें हिस्से के बीच में है। यानी इस विधि से π का मान 3(1/7) और 3(1/8) के बीच आता है।

एक वृत्त बनाया। वृत्त के केन्द्र पर ठुकी खूंटी उखाड़ कर उस छेद को O नाम दिया।

अब रेत पर कुरेदे हुए वृत्त की परिधि पर एक बिंदु A लिया। रस्सी का एक लंबा टुकड़ा लेकर उसके एक सिरे को A पर रखा। रस्सी को इस प्रकार खींचकर रखा कि वह O बिंदु से गुज़रती हुई वृत्त की परिधि पर स्थित अन्य बिंदु B को स्पर्श करे। रस्सी पर AB की लंबाई का निशान कोयले से बना लिया और नुकीले पत्थर से रस्सी को इस निशान तक काट लिया। आज की भाषा में हम इसे वृत्त का व्यास कहते हैं।

अब आपने रस्सी को वृत्त की परिधि पर इस प्रकार रखा कि उसका एक सिरा A पर रहे। जहां रस्सी खत्म हो गई उस स्थान को C नाम दे दिया। दूसरे शब्दों में, वृत्त का व्यास, वृत्त की परिधि के AC भाग पर रखा। अब आपने इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए रस्सी को C से D तक की परिधि के हिस्से पर रखा और तीसरी बार D से E तक के हिस्से पर रखा। वृत्त की परिधि यानी π को तीन बार इस प्रकार नापने पर भी EA भाग बच गया। यानी π का मान 3 से कुछ अधिक होगा।

आर्किमिडीज़

आर्किमिडीज़ का जन्म सायराक्यूज़ में ईसा पूर्व 287 के लगभग हुआ था। वह एक महान भौतिकविद्, गणितज्ञ और अभियंता था। उसके बारे में अनेक किस्से प्रचलित हैं। जब रोमन सेनानी मार्सेलस ने सिसिली पर आक्रमण करके वहां की बंदरगाह पर कब्ज़ा कर लिया, तो वहां के राजा ने आर्किमिडीज़ से मदद की गुहार की। उसी समय आर्किमिडीज़ को उत्तोलक यानी लीवर और घिरनी के जादू का ज्ञान हुआ था। इनकी सहायता से उसने बड़े-बड़े क्रेन बनाए और शत्रु के जहाज़ों को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पटक दिया। अवतल दर्पणों से सूर्य की किरणों को परावर्तित करके बचे हुए जहाज़ों को आग लगा दी। इसी प्रकार एक अन्य युद्ध में उसने दुश्मन को विभिन्न वैज्ञानिक युक्तियों से तीन साल तक रोके रखा।

एक रात जब नगरवासी किसी धार्मिक उत्सव में व्यस्त थे, रोम की सेना ने नगर के द्वार तोड़ दिए। मार्सेलस ने अपनी सेना को आदेश दिया, "आर्किमिडीज़ का बाल भी बांका न होने पाए। वह हमारा सम्मानीय अतिथि है।" आर्किमिडीज़ अपने घर के आंगन में रेत में ज्यामितीय आकृतियां बनाने में मग्न था। एक रोमन सैनिक ने अपने सेनापति के आदेश को अनदेखा करके आर्किमिडीज़ पर वार करने के लिए तलवार उठाई। आर्किमिडीज ने कहा, "मित्र, कृपया मुझे यह वृत्त पूरा कर लेने दो। उसके बाद चाहो तो मुझे मार डालना।" किंतु सैनिक ने इसे अनसुना करके वार कर ही दिया। आर्किमिडीज़ का अंतिम वाक्य था, "उन्होंने मेरा शरीर ले लिया, लेकिन अपनी आत्मा मैं साथ लेकर जा रहा हूं।"

अब इस बचे हुए भाग EA पर विचार करते हैं। पहले आपने इसे रस्सी से नापा। इस नाप EA को व्यास AB पर रखने पर पता चला कि EA, AB के 1/7 वें और 1/8 वें हिस्से के बीच है। आपके इस प्रयोग के अनुसार π का मान $3\frac{1}{7}$ और $3\frac{1}{8}$ के बीच होना चाहिए, यानी:

$$3\ (1/8) < \pi < 3\ (1/7)$$

तो यह था उस π के मान 22/7 का इतिहास जिसे हम स्कूल में शायद ही पढ़ते हैं।

उन्नत संस्कृतियां और गणितज्ञ

जहां की भौगोलिक परिस्थिति और वातावरण खेती के अनुकूल थे, वहां लोग बसते गए और संस्कृतियां विकसित होती गईं। सिंधु घाटी और मेसोपोटेमिया (वर्तमान इराक) में भी यही सिलसिला चला। 1936 में मेसोपोटेमिया के प्राचीन शहर बेबीलोन से 200 मील की दूरी पर खुदाई में एक ठीकरा (मिट्टी के बर्तन का टुकड़ा) मिला जिस पर कुछ खुदा हुआ था। पुरातत्व-वेत्ताओं ने अनुमान लगाया कि इसका संबंध ज्यामिति से है।

1950 में भाषाविदों और गणितज्ञों ने मिलकर इसे पढ़ने में सफलता प्राप्त की। इस पर एक सूत्र था। जिसके अनुसार π का मान 3.125 प्राप्त होता है, जो मिस्र की विधि से प्राप्त किए गए मान से मिलता-जुलता है।

ईसा पूर्व 287 में सायराक्यूज़ (इटली का एक प्राचीन नगर) में जन्मा आर्किमिडीज़ बड़ा ही विलक्षण व्यक्ति था। उसके बारे में अनेक रोचक कहानियां प्रचलित हैं। यह एक अलग मुद्दा है कि उनमें सत्यता का कितना पुट है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्किमिडीज़ एक असाधारण प्रतिभा वाला वैज्ञानिक था। π का शुद्ध मान ज्ञात करने का कीड़ा आर्किमिडीज़ के दिमाग में भी घूम रहा था। इसके लिए आर्किमिडीज़ ने समबाहु बहुभुज आकृतियों के अंतःवृत्त और परिवृत्त का उपयोग किया। 'मेज़रमेन्ट ऑफ ए सर्कल' में आर्किमिडीज़ ने कहा है कि समषट्भुज के स्थान पर सम-दशभुजा से शुरू करके 6 बार दुगना करके आने वाली संख्या के बराबर भुजाओं वाले समबहुभुज बना कर अंतःवृत्त और परिवृत्त नापने पर π का मान $3\frac{14}{16}$ आता है।

सोलहवीं शताब्दी में हॉलैंड के गणितज्ञ लुडॉस्फ व्हॅन सिलेन ने π का शुद्ध मान ज्ञात करने के लिए अपने कार्यकाल का काफी समय खर्च किया और जीवन के अंतिम दिनों में π का मान 32 अंकों तक निकाला। उन्होंने भी आर्किमिडीज़ की विधियों को अपनाया और 2 की 38वीं घात वाले भुजाओं के समबहुभुज के अंतःवृत्त और परिवृत्त की परिधि नापी।

नील और सिंधु नदियों की घाटियों में संस्कृति का विकास लगभग समकालीन था। यही कारण है कि गणित में शोध के क्षेत्र में मिस्र और भारत के निवासियों ने लगभग एक सी उन्नति की। सन् 380 के मिस्र के एक सूत्र में π का मान 3.1416 यानी 3 सही 177/250 दिया गया है। आर्यभट्ट के द्वारा लिखे गए आर्यभटीय में π के संदर्भ में उल्लेख है: 'सौ में चार जोड़ कर उसे 8 गुना करके उसमें 62000 जोड़ने पर प्राप्त होने वाली राशि 20000 व्यास वाले

कविता से पाई का मान याद रखना

π का मूल्य दशमलव के 22वें स्थान तक याद रखना काफी मुश्किल है। किंतु नीचे दी हुई कविता को याद कर लिया जाए तो इसके हर शब्द के अक्षरों की संख्या की सहायता से इसे याद किया जा सकता है। जैसे हाऊ यानी 3, आई 1, विश 4 .....।

How I wish I could recapture PI - Eureka! cried the great inventor
Christmas pudding, christmas pie - is it the problem's very center

यानी पाई का मान होगा: 3.14159265358979323846
इस तरह पाई का मान याद रखने के लिए ऐसे बहुत से तरीके अपनाए जाते हैं।

वृत्त की परिधि होगी' यानी

$\pi = 62832/20000$
$= 3.1416$

भास्कराचार्य के अनुसार भी π का उपर्युक्त मान बिल्कुल सही है। विद्वानों की राय है कि भारतीय गणितज्ञों ने भी आर्किमिडीज़ द्वारा अपनाई गई विधियों का ही प्रयोग किया होगा।

19वीं शताब्दी में कई गणितज्ञों ने π का मान 100 अंकों तक, 205 अंकों तक और 607 अंकों तक ज्ञात किया। किंतु कम्प्यूटर से π का मान निकालना एक चुनौती थी। कम्प्यूटर से काम लेने के लिए उसे कम्प्यूटर भाषा में ही निर्देश देने पड़ते हैं। विभिन्न व्यक्तियों ने ऐसे निर्देश तैयार किए। पाई का मान निकालने के लिए जो समीकरण इस्तेमाल किए गए उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाने वाला सूत्र/समीकरण भारतीय गणितज्ञ रामानुजन ने 75 वर्ष पहले अपनी कॉपी में लिख रखा था। 1987 में सुपर कम्प्यूटर की सहायता से π का मान 13,42,17,000 अंकों तक कुछ ही घंटों में निकाला गया।

कहा जाता है कि इंसान अपने इतिहास से कुछ समझदारी सीखता है। गणित के इतिहास का तो एक और इस्तेमाल भी है।

अध्यापन के दौरान गणित की अवधारणाओं को बिना उनका इतिहास बताए, बहुत रूखे-सूखे तरीके से बता दिया जाता है। कोई आश्चर्य नहीं कि विद्यार्थियों को गणित एकदम आसमान से टपका हुआ लगता है।

गणित के विषयांशों का अध्यापन करते समय, जहां भी संभव हो, उस अवधारणा के इतिहास से विद्यार्थियों को परिचित करा देना चाहिए। इससे उनके लिए गणित का अध्ययन रोचक बन सकेगा ऐसी आशा की जा सकती है।

पाई का मान निकालने की विभिन्न विधियां

1936 में मेसोपोटेमिया के प्राचीन शहर बेबीलोन से 200 मील की दूरी पर खुदाई में जो ठीकरा मिला उस पर यह सूत्र था:

समबाहु षट्भुज की परिमाप

समबाहु षट्भुज के परिवृत्त की परिधि

$= (57/60) + 36(60)^2$

उस समय बेबीलोन में दाशमिक प्रणाली के स्थान पर 1 से 6 तक गिनती वाली षष्टमान प्रणाली प्रचलित थी। यदि समबाहु षट्भुज की भुजा को r माना जाए और उसके परिवृत्त यानी बाहरी वृत्त की परिधि को C तो ठीकरे पर दिए समीकरण के अनुसार

$6 \ r/C = (57/60)+36/(60)^2$

यानी π का मान 3.125 प्राप्त होता है जो मिस्र की विधि से प्राप्त किए गए मान से मिलता-जुलता है।

इसके बाद आर्किमिडीज़ ने पाई का मान निकालने के लिए समबाहु बहुभुज आकृतियों के परिवृत्त के साथ-साथ अंत:वृत्त का भी उपयोग किया। जैसा कि साथ दिए गए चित्र से स्पष्ट है। परिवृत्त की परिधि षटभुज के परिमाप से अवश्य अधिक होगी।

अब अगर षट्भुज की प्रत्येक भुजा की लंबाई एक इकाई मान लेते हैं तो ऐसी स्थिति में

परिवृत्त की परिधि > षटभुज का परिमाप

$2 \pi r > C$

$2 \pi (1) > 6$ या $\pi > 3$

अब षट्भुज के अंदर एक वृत्त अर्थात अंत: वृत्त बना लेते हैं। उसकी परिधि षट्भुज के परिमाप से कम ही होगी। इस अंत:वृत्त की परिधि पता करने के लिए उसकी त्रिज्या ढूंढनी होगी।

अंत:वृत्त की परिधि और षट्भुज की बाहु को छूती हुई समकोण त्रिभुज बनाने पर हम इस वृत्त की त्रिज्या निकाल सकते हैं चूंकि इस समकोण
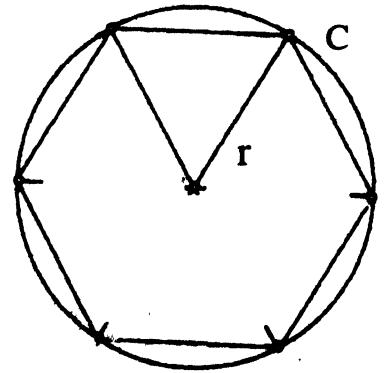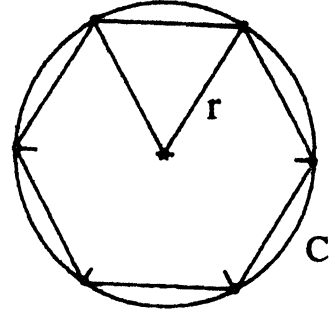
त्रिभुज में कर्ण की लंबाई एक है और आधार की लंबाई $1/2$ है।

$(r_1)^2 + (1/2)^2 = 1^2$

$(r_1)^2 = 1 - (1/4) = 3/4$

$r_1 = \ \ 3/2$

इस प्रकार अंत:वृत्त की त्रिज्या का मान $3/2$ प्राप्त होता है। अब चूंकि इस अंत:वृत्त की परिधि षट्भुज के परिमाप से कम ही होगी इसलिए

$2 \pi r_1 < C$

$2 \pi (\ \ 3/2) < 6$

$\pi < 6 / \ \ 3$

$\pi < 2 \ \ \ 3$

अब अगर पाई के बारे में परिवृत्त व अंत:वृत्त के आधार पर निकले निष्कर्षों को एक साथ देखें:

तो $3 < \pi < 2 \ \ \ 3$

इसके बाद आर्किमिडीज़ ने दुगनी यानी 12 भुजाओं का बहुभुज बनाया। उसके अंत:वृत्त और परिवृत्त की परिमिति नापने पर $3.105 < \pi < 3.215$ मान प्राप्त हुआ। इसी प्रकार चौबीस भुजाओं वाली समबाहु आकृति बनाने पर $3.312 < \pi < 3.159$ मान प्राप्त हुआ। आर्किमिडीज़ ने इसी प्रकार 96 समान भुजाओं वाला बहुभुज बनाकर निष्कर्ष निकाला कि π का मान 3 सही 10/71 और 3 सही 1/7 के मध्य है और उसका औसत मान 3.14 है। 'मेज़रमेन्ट ऑफ ए सर्कल' में आर्किमिडीज़ ने कहा है कि समषट्भुज के स्थान पर समदशभुजा से शुरू करके 6 बार दुगना करके आने वाली संख्या के बराबर भुजाओं वाले समबहुभुज बना कर अंत:वृत्त और परिवृत्त नापने पर π का मान $3 \times (14/16)$ आता है।
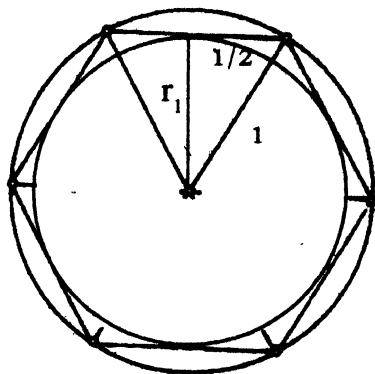
जुई दधीच: सांख्यिकी में पढ़ाई। गणित, शिक्षा और लेखन में रुचि।

अनुवाद: तेजश्री गुप्ते। गणित में स्नातकोत्तर उपाधि, गणित के अध्यापन और लेखन में रुचि।

यह लेख मराठी संदर्भ के अंक–2 (अक्टूबर-नवंबर 1999) से लिया गया है।

तौबा! ये मतवाली चाल

मुकेश इंगले

हमारे देश में सांपों के बारे में किस्म-किस्म के कहानी-किस्से प्रचलित हैं लेकिन साथ ही सही और तथ्यात्मक जानकारियों का अभाव बरकरार है। सांप कब सक्रिय होते हैं, उनका भोजन क्या-क्या हो सकता है, किस तरह का तापमान और किस प्रकार का परिवेश उन्हें सुहाता है, वे अपनी जीभ क्यों लपलपाते हैं, केंचुली क्यों उतारते हैं, अपना भोजन साबुत ही क्यों निगलते हैं, कैसे चलते हैं? आदि अनेकों सवाल हैं जो जिज्ञासापूर्ण
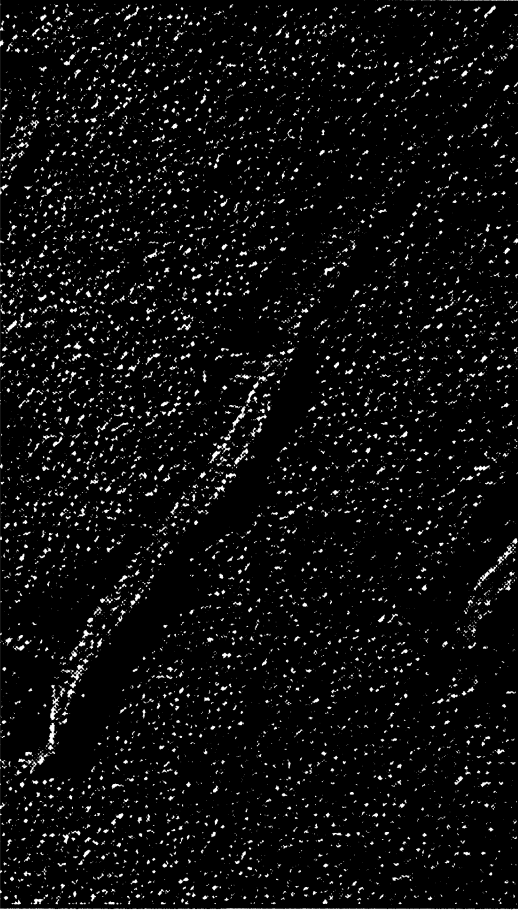
रेतीली सतह पर जहां सांप को पकड़ बनाने में कठिनाई होती है वहां चलने के लिए सांपों में कुंडलन विधि (Sidewinding) विकसित हुई है।

होने के साथ-साथ रोचक एवं मज़ेदार भी हैं। लेकिन सांपों को लेकर लोगों के दिलो-दिमाग में बैठे डर के कारण हम सांपों की दुनिया से कोसों दूर हैं।

फिलहाल हम सांपों के चलने के तरीकों पर गौर फरमाते हैं। ज़ाहिर है कि सांपों के पैर नहीं होते, लेकिन इस कमी के बावजूद वे बिना किसी खास परेशानी के चल लेते हैं और ज़रूरत पड़ने पर अपनी गति को और अधिक तेज़ भी कर सकते हैं। उदाहरण के लिए धामन और लता-सांप जैसे पतले और अधिक लंबे शरीर वाले सांपों की तेज़ चाल दर्शनीय होती है और इनकी चुस्ती-फुर्ती ने मुझे कई बार हैरत में डाला है। शायद आप जानते होंगे कि सारे सांप पानी में एक हद तक तैर लेते हैं। सांपों का एक बड़ा हिस्सा ऊंची-ऊंची जगहों पर चढ़ सकता है, और हां, एक सांप तो हवा में मज़े से तैर भी लेता है। लाल धामन और अलंकृत सांप आदि में पेड़ पर चढ़ने की खास क्षमता होती है। भला समुद्री सांप कहां पीछे रहने वाले, पानी में अपने शरीर को संचालित करने के लिए उनमें चप्पूनुमा चपटी दुम मौजूद है।

खैर, क्या आपने कभी सोचा है कि सांप चलते कैसे हैं? हालांकि बिना टांगों वाले इस रस्सीनुमा शरीरधारी जीव को देखकर इस संबंध में कुछ-कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है, लेकिन सांपों की चाल-ढाल को ठीक ढंग से समझने के लिए ज़रूरी है उसके शरीर के भीतर झांक लिया जाए क्योंकि उसके भीतर ही इस चाल के कई सारे राज़ छिपे हुए हैं।

रीढ़ की हड्डी और पसलियां

सांपों के शरीर को समझने के लिए कल्पना करते हैं रबर की एक बेलनाकार लचीली नली की। सांप रीढ़धारी जीवों की श्रेणी में आते हैं और इनकी सुविकसित रीढ़ की हड्डी में आमतौर पर 100-400 कशेरुका (Vertebrae) होती हैं। ये कशेरुका एक-दूसरे से जुड़कर एक चेननुमा आकृति धारण कर लेती हैं। सांप के मुंह वाले सिरे की कुछ कशेरुका को छोड़कर अन्य सब कशेरुकाओं के साथ पसलियों का एक-एक जोड़ा लगा होता है। इन पसलियों का एक सिरा कशेरुका से जुड़ा होने के कारण स्थिर होता है जबकि दूसरा स्वतंत्र होने के कारण चलायमान होता है। पसलियां लंबी, लचकदार, मुड़ी हुई, सिरों पर से नुकीली और प्रायः खोखली होती हैं तथा आसानी से आगे-पीछे दोनों ओर गति कर सकती हैं।

मोटेतौर पर किसी सांप के चलने की क्रिया को पसलियों व मांसपेशियों की आंतरिक गति का बाहरी निरूपण माना जा सकता है। कहने का आशय यह है कि बाहर से देखने पर सांप के शरीर में होने वाली हलचल सीधे-सीधे पसलियों व मांसपेशियों की स्थिति, गति आदि में होने वाले परिवर्तन की सूचक है। सांप अपनी पसलियों के सिरों पर चलते हैं। इस क्रिया में सांप के पेट के शल्क भी मदद करते हैं। चलने की यह क्रिया सदैव पेट के बाहरी भागों यानी अगल-बगल के हिस्सों से संपादित होती है। उदाहरण के लिए कोई सांप ज़मीन पर फैला हुआ है, उसके शरीर का नीचे वाला भाग ज़मीन/सतह के संपर्क में होता है।

सांप चलना प्रारंभ करता है। ऐसे में शरीर के एक ओर के पार्श्व (बगल) की पसलियों का एक खण्ड आगे की ओर गति करता है और इसी समय पेट के शल्कों के किनारे सतह को कसकर थाम लेते हैं। तत्पश्चात् दूसरी ओर के पार्श्व (बगल) की पसलियों का खण्ड उठकर इनके (पसलियों के) सामने की ओर आ जाता है तथा पेट के शल्कों के किनारे पुनः सतह को थाम लेते हैं। यह क्रिया लगातार जारी रहती है जिससे सांप के शरीर का पिछला वाला हिस्सा आगे खींचा जाता है और अगला वाला हिस्सा और आगे धकेल दिया जाता है।

यह सांपों की सामान्य चलन क्रियाविधि है। लेकिन सांप तो तपते रेगिस्तान से लेकर घने वनों में, पेड़ों और पहाड़ों पर, नदी-तालाब और समुद्र में भी यानी पृथ्वी पर लगभग हर जगह मिलते हैं। विभिन्न जगहों पर रहने वाले अलग-अलग सांपों के चलने का आमतौर पर अपना एक
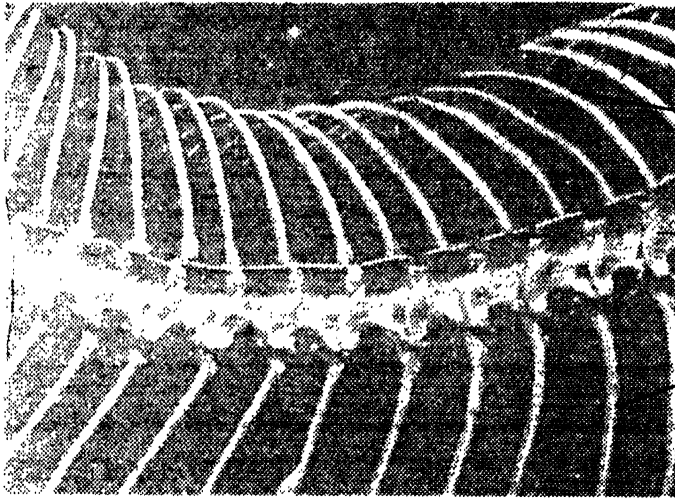
मांप की रीढ़ की हड्डी और पसलियां

सांप की रीढ़, पसलियां और शल्क: सांप की रीढ़ की हड्डी लगभग 100 से 400 कशेरुकों से मिलकर बनती है। कशेरुक एक-दूसरे से जुड़कर एक लंबी शृंखला बनाते हैं। इन कशेरुकों से पसलियां जुड़ी होती हैं। पसलियों का एक-एक सिरा कशेरुक से जुड़ा होता है तथा दूसरा सिरा हलचल के लिए स्वतंत्र होता है। पसलियों की हलचल की वजह से भी कुछ सांप अपने चलने की क्रिया को संपन्न कर पाते हैं।

सांप को पलटकर देखने पर काफी सारे पट्टे दिखते हैं जिन्हें शल्क कहा जाता है। इन शल्कों के अगल-बगल के हिस्से ज़मीनी सतह को थामकर सांप के चलने-फिरने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
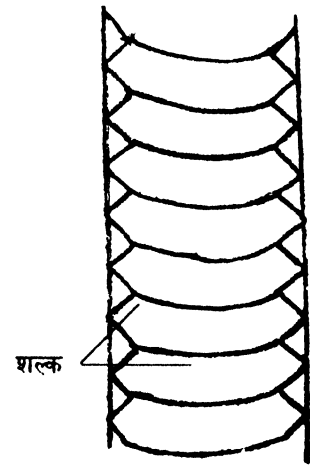
सांप के शरीर पर बने शल्क

खास अंदाज़ होता है।

आमतौर पर सांप चलने के लिए चार तरीकों का इस्तेमाल करते हैं। इनमें से वे कौन-सा तरीका अपनाएंगे या कोई दो तरीकों का मिश्रण अपनाएंगे यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके आसपास का वातावरण कैसा है — पथरीली घासफूस वाली ज़मीन है, रेत है, वे किसी बिल में घुस रहे हैं या पेड़ पर चढ़ रहे हैं।

सर्पण गति

नाग और धामन आदि सहित सांपों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा

सामान्यतः सर्पण गति (Lateral Undulation) वाले तरीके का उपयोग करता है। चलने की यह क्रिया इस प्रकार पूरी होती है।

- सांप ज़मीन पर स्थिर है और उसके शरीर का निचला यानी पेट वाला हिस्सा सतह के संपर्क में है।
- सांप अपने शरीर को अंग्रेज़ी के 'एस' अक्षर जैसे मोड़ लेता है यानी कुंडलियां बना लेता है।
- ऐसा स्वरूप धारण करने के पीछे उसका मकसद है कि ज़मीन पर कहीं उभरी हुई कुछ स्थिर वस्तुएं मिल जाएं कोई कंकड़, पत्थर, घास आदि जिनसे वो अपने शरीर को सटा सके।

तत्पश्चात् वह अपने आप को (शरीर को) इन सब वस्तुओं पर ज़ोर लगा कर आगे को धकेलता है।

ऐसा करने से होता यह है कि अगल-बगल की दिशाओं में लगने वाला बल एक दूसरे को संतुलित कर देता है (सामने दिया चित्र) और आगे की तरफ लगने वाले बल के कारण सांप आगे की ओर सरक जाता है।
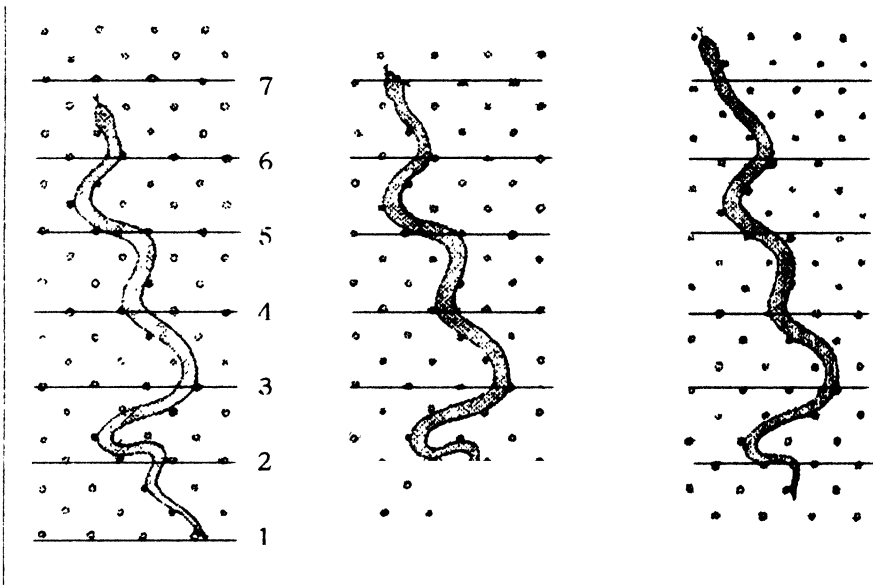
सर्पण गतिः सांप सर्पण से किस प्रकार चलता है यह समझने के लिए एक बोर्ड पर कुछ खूंटियां गाड़ी गईं। फिर बोर्ड पर तीन-तीन इंच की दूरी पर समानांतर रेखाएं खींची गईं। सांप इन खूटियों का सहारा लेकर चल रहा है। चलते हुए सांप के एक-एक सेकंड के अंतराल पर फोटो खींचे गए। चित्र में स्पष्ट दिख रहा है कि दो सेकंड में सांप कितना आगे बढ गया है। इसी तरह ज़मीन पर चलता हुआ सांप खूंटियों की जगह पौधों के तनों, घास, पत्थर आदि का सहारा लेता है।
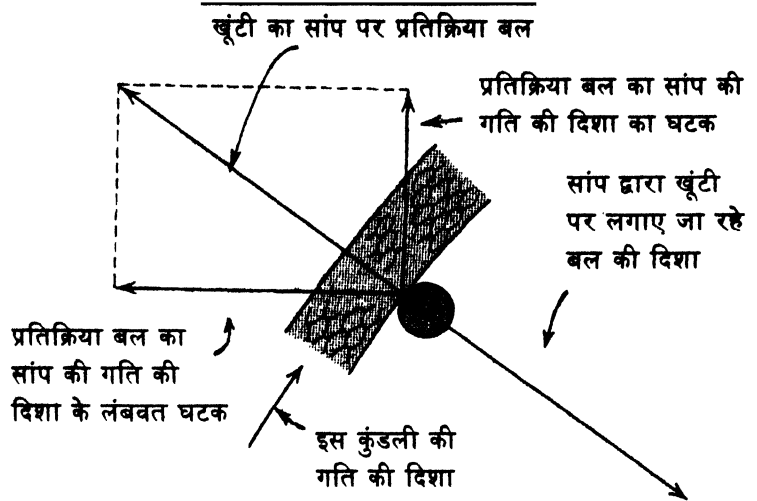
सर्पण गति में बलों की भूमिका: सर्पण गति में चलता हुआ सांप बलों के विज्ञान का बखूबी इस्तेमाल करता है। इस तरीके में सांप को कम-से-कम तीन अवरोधों की ज़रूरत होती है। साथ ही यह भी ज़रूरी है कि इन अवरोधों में से दो अवरोध उसके शरीर के एक ही ओर हों और एक दूसरी ओर। इन्हीं तीन अवरोधों पर बल लगा कर सांप आगे की दिशा में चल पाता है। सांप अपने शरीर को खूंटी की विपरीत दिशा में धकेलता है जिससे उसके शरीर पर खूंटी द्वारा उतना ही प्रतिक्रिया बल लगाया जाता है। इस प्रतिक्रिया बल के दो घटक होते हैं – एक सांप की गति की दिशा में और दूसरा उससे लंबवत दिशा में। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है चूंकि ये खूंटियां सांप के शरीर के दोनों ओर हैं, सांप की गति की दिशा के लंबवत लगने वाले बल के घटक एक दूसरे को निरस्त कर देते हैं और सांप आगे की ओर बढ़ जाता है।

चूंकि सांप ईन स्थिर वस्तुओं के विपरीत अपने शरीर को लगातार धका रहा है इसलिए वह लगातार आगे की ओर सरकता जाता है – कुंडलियां ज़रूर वैसे-की-वैसे बनी रहती हैं। – आगे बढ़ते-बढ़ते अगर अपने आपको धकाने के लिए ज़रूरी कोई वस्तु पीछे छूट जाए तो वह आगे अन्य कोई ऐसी वस्तु तलाश लेता है और धक्का मारने के लिए उसे इस्तेमाल करता है।

– इस तरह की गति के लिए सांप सामान्यत: तीन अथवा चार उभरी हुई वस्तुओं/बिंदुओं का सहारा लेता है। साथ ही यह ज़रूरी है कि ये सब बिंदु सांप के एक तरफ ही न हों बल्कि दोनों तरफ मौजूद हों, तभी वह इनके सहारे अपने आप को धका सकता है।

– कुल मिलाकर सांप का शरीर गतिमान हो जाता है और सांप नए संपर्क बिन्दु खोजता हुआ अग्रसर होता जाता है क्योंकि पुराने संपर्क बिन्दु पीछे छूटते चले जाते हैं।

सांप के पेट और ज़मीन की सतह के बीच होने वाला घर्षण सांप की गतिशीलता में बाधा डालता है, लेकिन सांप के पेट के शल्कों के चिकने होने से यह घर्षण काफी कम होता है। यानी कि सर्पण गति में सांप हमारी तरह पैरों को नीचे की ज़मीन पर बल लगाकर नहीं चलता बल्कि सतह के ऊपर उठी हुई वस्तुओं के सहारे आगे को बढ़ पाता है।

सतह के ऊपर उठे हुए संपर्क बिन्दुओं के बिना सांप इस तरीके से चल नहीं सकता। इन संपर्क बिन्दुओं की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है, इसे इस बात से समझा जा सकता है कि यदि सांप को कांच की किसी समतल सतह पर डाल दिया जाए तो इस तरीके से वह ज़रा भी नहीं चल पाता क्योंकि अपने पेट के शल्कों को अटकाने या फंसाने के लिए सतह पर कोई भी वस्तु मौजूद नहीं होती।

इस तरीके से चलते हुए किसी सांप को गौर से देखने पर आप पाएंगे कि इस क्रिया के दौरान उत्पन्न होने वाली तरंगें सांप के सिर से शुरू होकर उसकी दुम तक चली जाती हैं और तुरंत ही सांप का पूरा का पूरा शरीर एक साथ गतिमान हो उठता है। ज़मीन पर चलने का सांपों का यह तरीका बड़ा प्रभावशाली है।

कन्सर्टिना गति

कुछ सांप, खासकर संकरे बिलों में रहने वाले या पेड़ पर चढ़ने वाले जैसे हरा लता सांप, लाल धामन, अलंकृत सांप वगैरह को 'सर्पण गति' वाला तरीका रास नहीं आता क्योंकि एकदम सीधी बिल की दीवारों के सहारे वे अपने आपको आगे की ओर धक्का नहीं दे सकते। अत: अपनी ज़रूरत के हिसाब से इन्होंने एक नया तरीका अपना लिया है जिसे कंसर्टिना (Concertina) कहा जाता है।

पेड़ पर चढ़ते हुए वे इस तरीके को कैसे अपनाते हैं उसका वर्णन यहां दिया जा रहा है। बिल में घुसते वक्त बिल की दीवारों के सहारे कुंडलियां बनाकर आगे बढ़ने के तरीके का वर्णन चित्र के साथ दिया गया है।

– सांप पेड़ पर किसी आधारभूत जगह पर है और उसके शरीर का निचला
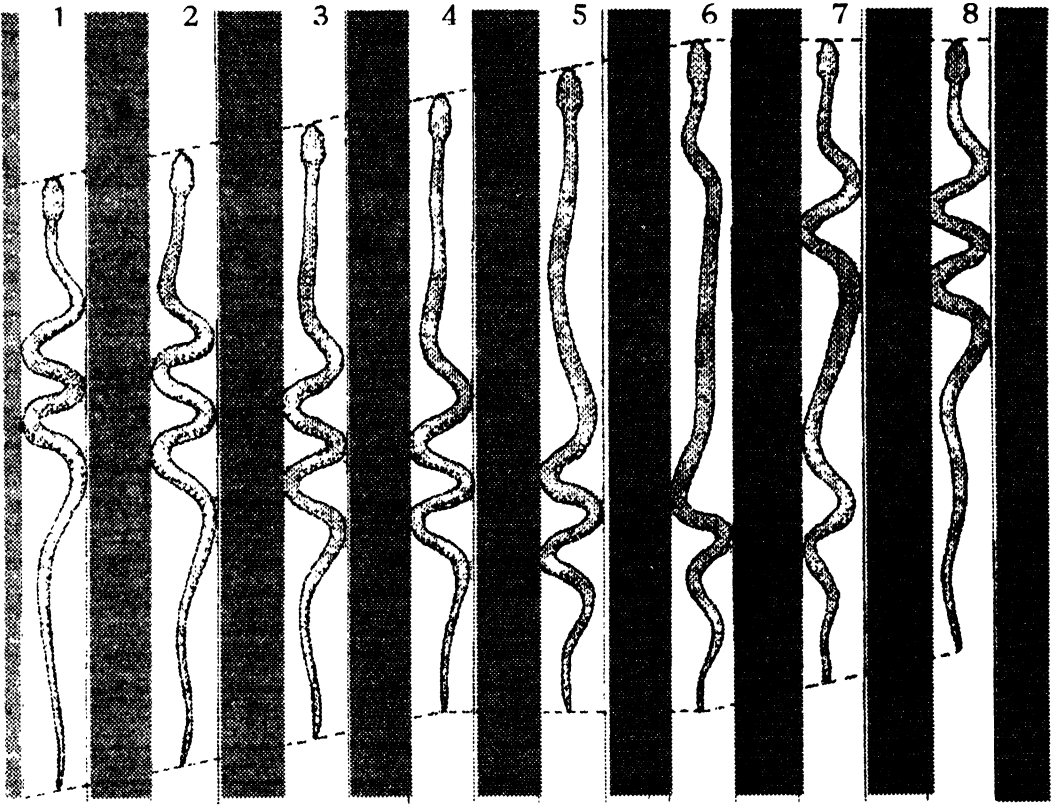
कसर्टिना गति: इस किस्म की चाल पेड़ों पर चढ़ने वाले या संकरे बिलों में घुसने वाले सांपों की खास पहचान है। इस चित्र में सांप द्वारा किसी बिल में आगे की ओर सरकने की क्रिया को आठ हिस्सों में दिखाया गया है। सांप के दोनों ओर बने छायादार हिस्से वास्तव में बिल की दीवार है। इस तरीके में हरेक स्थिति में सांप द्वारा बनाई गई कुंडली एक महत्वपूर्ण रोल निभाती है। यही कुंडली बिल की दीवार से सटी रहती है और सांप को गिरने से बचाती है। यहां स्थिति पांच तक सांप के शरीर का अगला हिस्सा आगे की ओर बढ़ रहा है और पिछले हिस्से में नई कुंडलियां बनती जाती हैं जो शरीर को थामे हुए हैं। 6, 7, 8 में सांप अपने शरीर के पिछले हिस्से को खींच रहा है और शरीर के अगले हिस्से में कुंडली बनाकर उसके ज़रिए अपने आप को थामे हुए है।

यानी पेट वाला हिस्सा इस जगह की सतह के संपर्क में है।

सांप किसी नये आधार की तलाश में है और अपने सिर और गर्दन को खींचकर ऊपर या आगे की ओर उठाता या बढ़ाता है। इस स्थिति में उसके सिर और गर्दन का पेड़ की सतह से कोई संपर्क नहीं है और ये हवा में हैं।

अभी सांप के शरीर का निचला

यानी पूंछ की ओर वाला भाग एकदम स्थिर है।

- सांप नए आधार को ढूंढ लेता है। उसके संपर्क में आने पर सांप अपने सिर और गर्दन को पेड़ के इस सम्पर्क बिन्दु पर रखता है और शरीर के निचले हिस्से को ऊपर या आगे की ओर खींच लेता है जिससे सांप का शरीर आगे बढ़ जाता है।
- शरीर का आगे का स्थिर भाग दोहरा होकर या मुड़कर घेरों की शक्ल में आ जाता है और सांप अपने शरीर के इस भाग के घेरों की एक श्रृंखला जैसी बना लेता है।
- इस प्रकार सांप आगे बढ़ता चला जाता है। उसके सिर और गर्दन पुनः नया आधार खोजते हैं और पीछे वाले भाग के भी पुनः नए-नए घेरे बनते चले जाते हैं।

'सर्पण गति' के समान इस तरीके में सांप का पूरा शरीर एक साथ गतिमान नहीं होता बल्कि सांप अपने शरीर को क्रमशः खींचकर और सिकोड़कर आगे की ओर गति करता है।

सरल रेखीय गति

अजगर और माटी का सांप जैसे मोटे, गठीले और भारी शरीर वाले सांपों में लंबी-लंबी बलिष्ठ मांसपेशियां होती हैं। सांप के पेट की त्वचा को पसलियों और कशेरुका से जोड़ने वाली ये मज़बूत मांसपेशियां ही सांप के शरीर को आगे-पीछे खींचती हैं जिससे सरल रेखीय गति (Rectilinear Locomotion) संभव हो पाती है। सांप को इस तरह चलने के लिए घर्षण ज़रूरी है; अगर सतह बहुत ही चिकनी हुई तो उसके पेट वाले शल्क (Scutes) ज़मीन पर अपनी पकड़ नहीं बना पाएंगे। सांप की चारों चाल में से केवल यही एक तरीका है जो अन्य प्राणियों से थोड़ा-बहुत मेल खाता है – यानी कि वो ज़मीन से घर्षण की मदद से आगे बढ़ता है। आइए देखें सांप इस तरीके से कैसे चलता है:

- सांप ज़मीन पर है और उसके शरीर का निचला यानी पेट वाला हिस्सा सतह के संपर्क में है।
- वह अपनी मांसपेशियों के ज़रिए नीचे के कुछ शल्कों (Scutes) को पास-पास ले आता है और संकुचित शल्कों (Scutes) के ज़रिए ज़मीन पर अपनी पकड़ जमा लेता है। (चित्र में हिस्से 1, 3 व 5)
- इन संकुचित हिस्सों के बीच (2, 4) में शल्क काफी दूर-दूर खुले-खुले रहते हैं। और यह हिस्सा ज़मीन से थोड़ा-सा उठा रहता है।
- अगले चरण में सांप अपनी गर्दन को आगे को बढ़ाता है जिससे
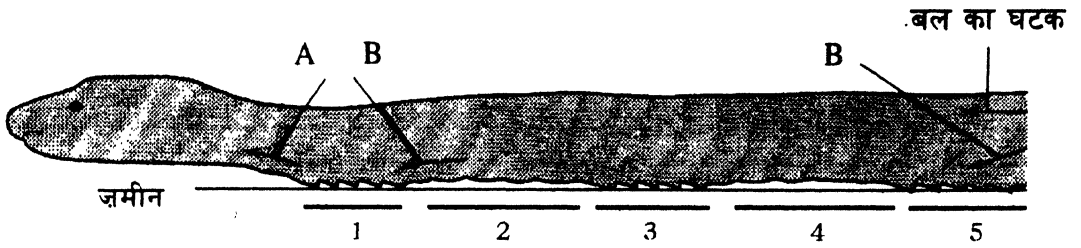
सरल रेखीय गति: अजगर या ऐसे ही हृष्ठ-पुष्ठ मांसपेशियों वाले सांप इस चाल का मज़ा लेते हैं। इस चाल में सांप के शरीर के कुछ बिंदु ज़मीन के संपर्क में रहते हैं और कुछ ऊपर उठे होते हैं। उसके शरीर का भार ज़मीन से सटे इन बिन्दुओं पर होता है। इस चित्र में 1, 3, 5 ऐसे ही क्षेत्र हैं। 2 और 4 ऊपर उठे हिस्से हैं। गर्दन को आगे बढाने पर A मांसपेशियों में खिंचाव की वजह से पहले संकुचित हिस्से '1' से आगे के शल्क (Scutes) ऊपर उठ जाते हैं और B मांसपेशियों की वजह से पीछे के शल्क ज़मीन के संपर्क में आ जाते हैं। ज़मीन के संपर्क में जो भी हिस्से हैं उन सबके साथ यही होता है। इस तरह सांप का शरीर आगे की ओर खिसकता रहता है।

संकुचित हिस्से '1' के आगे वाले शल्क खिंचकर ऊपर की ओर उठ जाते हैं (A)। उसी समय संकुचित हिस्से के पीछे वाले शल्क से जुड़ी बलिष्ठ मांसपेशियां (B) खींचकर कुछ और शल्कों को ज़मीन के संपर्क में ले आती हैं।

यही प्रक्रिया ज़मीन के संपर्क वाले अन्य हिस्सों (3,5) में भी होती है। हर संकुचित हिस्से में आगे के शल्क खिंचकर ऊपर उठ जाते हैं और पीछे की ओर से कुछ शल्क खिंचकर ज़मीन के संपर्क में आ जाते हैं।

इस तरह से गर्दन को आगे बढ़ाने पर जो प्रक्रिया शुरू होती है उसके ज़रिए सांप लगातार बिना रुके आगे बढता जाता है।

– यह क्रिया लगातार जारी रहती है और सांप के पेट की त्वचा इल्ली (केटरपिलर) की भांति ऊपर-नीचे खिसकती नज़र आती है और सांप एक सीधी लाइन में आगे बढ़ता जाता है।

'सर्पण गति' के समान इस तरीके के दौरान सांप का शरीर टेढ़ी-मेढ़ी तरंगों में नहीं फेंका जाता। चलने का यह तरीका धीमा ज़रूर है लेकिन है प्रभावी क्योंकि इसमें सांप का शरीर बिना किसी बाधा के एक समान गति से आगे की ओर अग्रसर होता है।

इस तरीके की विशेषता यह है कि इसमें सांप सरल रेखा में गति करता है और अगर ज़मीन के ऊपर उभरी हुई वस्तुएं न हो तो भी आगे बढ़ सकता है। कभी-कभी शिकार के पीछे

लगे हुए सांप भी यही तरीका अपनाते हैं ताकि शिकार को उनकी भनक भी न लगे।

पार्श्व कुण्डलन गति (Sidewinding)

सांपों के चलने का सबसे दर्शनीय और मनमोहक तरीका है पार्श्व कुण्डलन। रेतीले इलाकों में पाए जाने वाले सांप जैसे भारत का फुर्सा (सॉ-स्केल्ड वाइपर) आदि इस तरीके को अपनाते हैं। यह तरीका परिवर्तन शील रेतीली सतह पर सांप को तेज़ी से और लगातार चलने में मदद करता है। सतह भुरभुरी होने से उस पर सांप की पकड़ ठीक से बन नहीं पाती और न ही 'सर्पण गति' के लिए यहां उभरे हुए संपर्क बिन्दु मौजूद होते हैं जिनके सहारे सांप खुद को धकिया सके। साथ ही यहां की सतह जल्द ही इतनी गर्म हो जाती है कि सांप के लिए अपना पूरा-का-पूरा शरीर सतह से सटाकर चलना घातक होगा। अतः झुलसती रेत पर चलते वक्त सांप ये चौथा तरीका अपनाते हैं। पार्श्व कुण्डलन गति से तेज़ी से चल रहे ये सांप अपने शरीर की गोल-गोल गुत्थियां बनाकर उचकते हुए चलते नज़र आते हैं। इस विधि को समझने के लिए आपको दिए गए चित्र गौर से देखने होंगे और उन्हें वर्णन के साथ जोड़कर देखना होगा:

चित्र-1 : सांप किसी रेतीली सतह पर है। उसके शरीर के कुछ हिस्से ज़मीन के संपर्क में हैं और कुछ उठे हुए हैं। उसका सिर अभी ज़मीन पर टिका ही है, सिर के पीछे का कुछ हिस्सा उठा हुआ है, सांप का बीच का हिस्सा रेत पर टिका हुआ है, अंत की तरफ का हिस्सा हवा में है और पूंछ ज़मीन पर है। दाहिनी-नीचे की ओर वे निशान हैं जो सांप ने इस प्रकार चलते हुए बनाए हैं और ऊपर-बाईं तरफ की रेखाएं दिखा रही हैं कि इस दिशा में आगे वाले निशान बनेंगे।

चित्र-2 : जहां पर सांप ने अपना सिर रखा था वहां अंग्रेज़ी के 'जे' की घुंडी जैसा निशान बन गया है। अगर सांप की पूंछ को देखें तो समझ में आएगा कि उसने इसे हवा में उठा लिया है और अपने पीछे वाले हिस्से को बीच वाले निशान पर रख रहा है। इसी तरह बीच वाले निशान पर से आगे वाले हिस्से को उठा रहा है जिससे सिर वाले निशान पर अपने शरीर का आगे वाला हिस्सा रख दिया है – और सिर को वह अपनी गति की दिशा में आगे बढ़ा रहा है।

चित्र-3 : पूंछ लगभग पूरी ही दूसरे निशान पर आ गई है और वही पूरी प्रक्रिया दोहराने की वजह से आगे वाला काफी हिस्सा आगे बढ गया है और सिर हवा में उठा हुआ है।

चित्र-4 : आगे वाला हिस्सा इतना आगे

1
वे निशान जिन पर सांप थोड़ी देर बाद आने वाला है।
सांप के चलने की दिशा
यहां रख रहा है
उठा हुआ हिस्सा
जमीन के संपर्क में है
यहां से उठा रहा है
2
3
4
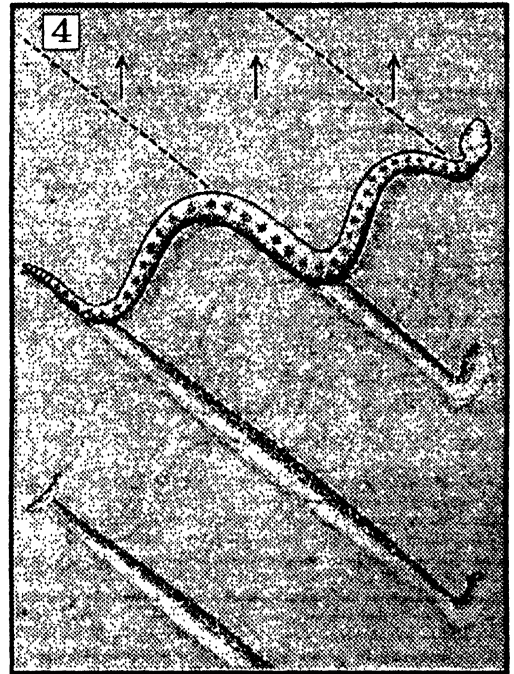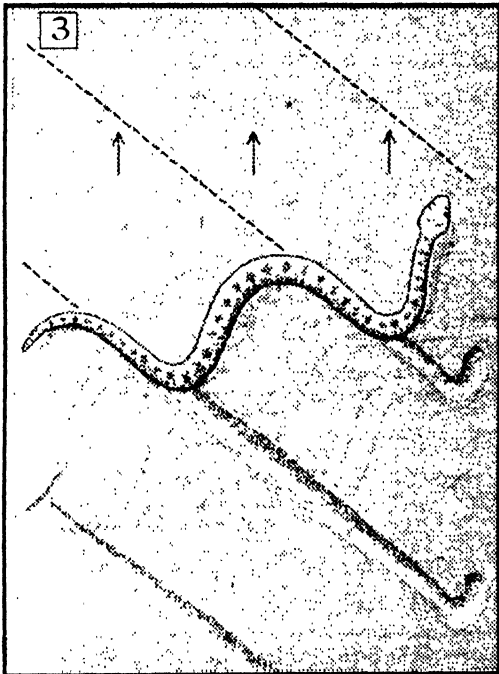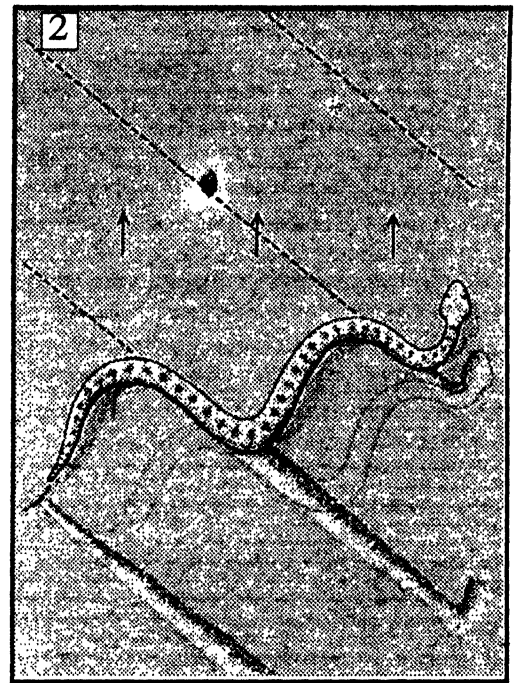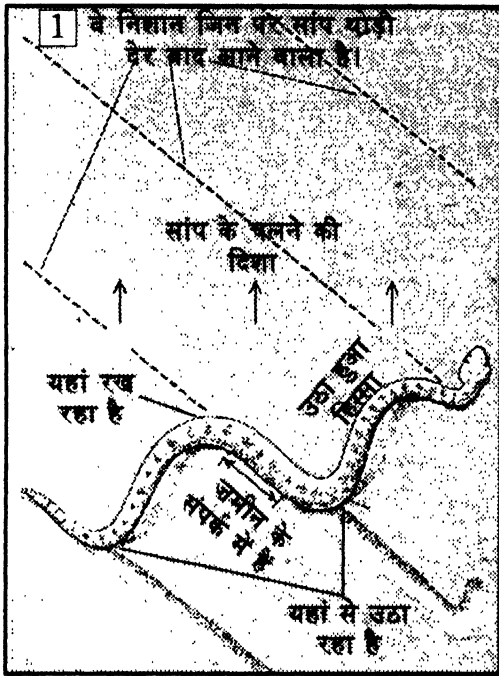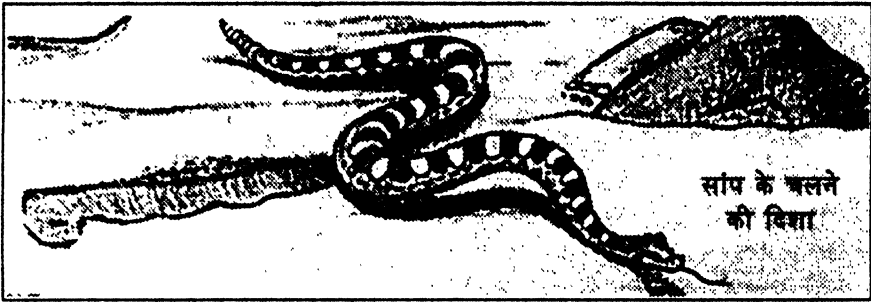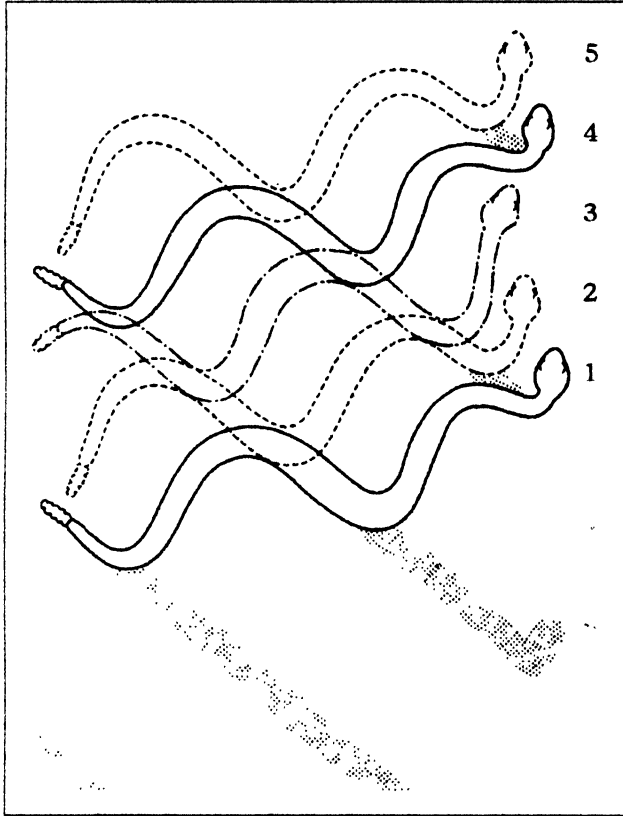
पार्श्व कुंडलन गति: खासकर रेगिस्तानी इलाकों में सांपों को इस चाल का इस्तेमाल करते देखा जा सकता है। **ऊपर** के चित्र में स्पष्ट दिख रहा है कि इस चाल के दौरान सांप के शरीर के कुछ हिस्से ज़मीन पर होते हैं और कुछ हवा में उठे रहते हैं। इस चित्र में सांप का सिर और बीच के दो हिस्से हवा में उठे हुए हैं; यानी तीन हिस्से ज़मीन के संपर्क में हैं और तीन हवा में उठे हुए हैं।

नीचे वाले चित्र में इस तरह चल रहे सांप की पांच स्थितियों को दिखाया गया है – हर स्थिति अलग-अलग तरह की रेखा द्वारा दर्शाई गई है। सांप-चिन्ह तिरछे बन रहे हैं परन्तु स्पष्टत: सांप ऊपर की तरफ गति कर रहा है।

बढ़ गया है कि फिर से एक और निशान की ज़रूरत है; इसलिए सांप अपना सिर रेत पर टिका देता है जिससे एक बार फिर 'जे' की घुंडीनुमा निशान बन जाता है।

इस तरह की गति की विशेषता यह है कि सांप के चलने के निशान उस दिशा में नहीं होते जिस दिशा में सांप गति कर रहा है, लगभग 60 अंश का कोण होता है इन दोनों के बीच। और केवल चलने के निशान देखें तो बिल्कुल भी समझ में नहीं आता कि कैसे बने होंगे ये – सांप ने एक से दूसरे निशान पर छलांग लगाई होगी क्या?

इस चाल की दूसरी विशेषता यह है कि रेतीले इलाके में जहां ज़मीन पर उभरी हुई स्थिर वस्तुएं आसानी से नहीं मिल पाती इसलिए सर्पण गति संभव नहीं है – ऐसी जगह भी इस तरीके से सांप गति कर सकता है।

और तीसरी खासियत है कि इस चाल में सांप के शरीर का कोई हिस्सा लगातार ज़्यादा समय के लिए ज़मीन के संपर्क में नहीं रहता – इसलिए तपती हुई रेत पर भी सांप बिना झुलसे चल पाता है।

इस चाल में बने हर निशान की लंबाई ठीक उस सांप की लंबाई के बराबर होती है – आप ही सोचिए ऐसा क्यों होता है?

एक से ज़्यादा चाल चले

एक तो सांप बहुत तरह से चल सकता है और कभी-कभी तो वह एक से ज़्यादा तरीके एक साथ अपना लेता है। मनुष्य की चाल से ये सब तरीके इतने फर्क हैं कि इन्हें समझना खासा मुश्किल होता है, फिर भी शायद आप लेख पढ़कर ये तो समझ पाए होंगे कि सांप के चलने के ये चारों तरीके एक-दूसरे से किस तरह अलग हैं। पतले लंबे शरीर वाले, मोटे भारी भरकम तथा मध्यम व छोटे आकार के सांपों में अपनी-अपनी शारीरिक बनावट और ज़रूरतों के अनुसार चलने के अलग-अलग तरीके विकसित हुए हैं।

सांप अरबों सालों से धरती पर रेंगते आए हैं, परंतु शीत रक्त वाले ये प्राणी यह साबित करने में कामयाब रहे हैं कि चलने, दौड़ने, कूदने और तैरने के लिए पैर जैसे अंगों का होना ज़रूरी नहीं है।

मुकेश इंगले: सांपों के संरक्षण हेतु प्रयासरत। उज्जैन में रहते हैं। म. प्र. दलित साहित्य अकादमी में कार्यरत। सांपों के बारे में लोगों के बीच जानकारी फैलाने के लिए वे जगह-जगह सांप-शो भी आयोजित करते हैं।

गुब्बारा आगे की ओर . . . . .

पिछली बार आपसे यह सवाल पूछा था – एक कार के सभी खिड़की दरवाज़े और हवा आने के सभी छेद बंद हैं। कार की पिछली सीट पर एक बच्चा हवा से हल्की गैस से भरा गुब्बारा लिए बैठा है। गुब्बारा हवा में तैर रहा है। अचानक कार स्टार्ट होकर आगे की ओर चल पड़ती है। आपको बताना था कि गुब्बारा अपनी जगह बना रहेगा, या पीछे जाएगा, या आगे की ओर जाएगा।
इस सवाल का कोई भी सही जवाब नहीं मिला। तर्क का इस्तेमाल करते हुए भी इस सवाल का जवाब ढूंढा जा सकता है, परन्तु यहां पर गुब्बारे पर लग रहे बलों का विश्लेषण करते हुए जवाब खोजने का प्रयास किया गया है।

इस किस्म की समस्याओं का हल ढूंढने का कारगर तरीका यही होता है कि सबसे पहले वस्तुओं पर लगने वाले बलों का विस्तृत अध्ययन कर लिया जाए। क्योंकि अगर किसी वस्तु की अवस्था में बदलाव (प्रत्याशित या अप्रत्याशित) होता है तो यकीनन, इसका कारण उस वस्तु पर लगने वाले बलों में असंतुलन होता है।

तो पहले देखते हैं कि जब कार खड़ी हुई है उस समय फुग्गे पर कौन-कौन से बल लग रहे होते हैं। हम यह मान कर चल रहे हैं कि कार के सभी शीशे चढ़े हुए हैं। यानी कार पूरी तरह से बंद है ताकि बाहर की हवा के कारण फुग्गा हिले-डुले नहीं। ऐसी स्थिति में फुग्गे पर हवा का दबाव चारों तरफ से लगता है। (देखें चित्र क)

कार में बंद हवा, पानी की ही तरह एक तरल पदार्थ है। और तरल पदार्थों की यह विशेषता होती है कि उनके द्वारा अन्य वस्तुओं पर लगाया जाने वाला दबाव, गहराई के साथ बढ़ता जाता है। यानी फुग्गे के निचले हिस्से पर (ऊपर की दिशा में) लगने वाला हवा का दबाव, फुग्गे के ऊपरी भाग पर (नीचे की दिशा में) लगने वाले दबाव से अधिक होगा। फुग्गे के साइड में लगने वाले दबाव समान गहराई के कारण बराबर (किंतु विपरीत दिशा में) होंगे। इसलिए फुग्गे पर एक परिणामी दबाव ऊपर की दिशा में लगता है। यही दबाव उत्पलावन बल (Buoyant Force) को जन्म देता है।

चूंकि फुग्गे में हवा से हल्की गैस भरी है, फुग्गे का भार (w), उत्पलावन
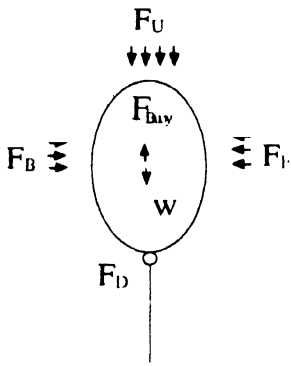
चित्र–क: कार स्थिर होने पर गुब्बारे पर लगने वाले बल

बल ($F_{Buoyant}$) से कम होता है। इसलिए अगर ऐसे फुग्गे को एक धागे से बांधकर न रखा जाए तो वह ऊपर उड़ जाता है।

$$F_{Buoyant} > w$$

$$F_{Buoyant} - w = T$$

$$F_{Buoyant} - w - T = 0$$

यहां पर 'टी' धागे का तनाव है जो नीचे की दिशा में लगता है। और जिसके कारण कार जब रुकी हुई होती है तो फुग्गे पर लगने वाले सभी बलों का संतुलन बना रहता है।

आइए अब देखते हैं कि परिस्थिति में क्या बदलाव आता है जब कार स्टार्ट होकर आगे की ओर चल पड़ती है। जैसा कि आम अनुभव है गाड़ी के चलते ही उसमें मौजूद यात्री और वस्तुएं पीछे की ओर ढकेली जाती हैं मानो कि उन सब पर पीछे की दिशा में.एक बल लग रहा हो। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि गाड़ी के चलने से उसकी गति और उसमें बैठे लोगों और चीज़ों की गति में अंतर आ जाता है। गाड़ी तो चलने लगती है पर उसमें मौजूद बाकी सब चीज़ें अपने जड़त्व के कारण कुछ पल के लिए उस दर से गति नहीं पकड़ पाती हैं। फलस्वरूप कार के सापेक्ष अन्य चीज़ें कुछ देर के लिए पीछे रह जाती हैं।

ऐसे में अगर कार में कोई व्यक्ति अपने आंख-कान बंद करके बैठा है तो उसे यह मालूम नहीं पड़ सकेगा कि गाड़ी चलने लगी है, पर उसे अचानक पीछे की दिशा में एक क्षणिक बल लगता महसूस होगा। यह कोई वास्तविक बल नहीं है। यह तो दरअसल एक छद्म बल (Pseudo Force) है जिसे परिस्थितियों में बदलाव को समझने के लिए ईज़ाद करना पड़ेगा बशर्ते, हम यह मान लें कि गाड़ी अभी भी खड़ी है।

यानी पूरी समस्या को आप दो फर्क नज़रिए से देख सकते हैं। पहले नज़रिए में आप यह स्वीकारते हैं कि गाड़ी चलने लगी है। इस नज़रिए में किसी छद्म बल का कोई स्थान नहीं है। दूसरे नज़रिए में आप यह मान लेते हैं कि गाड़ी अभी भी खड़ी है, पर उसमें मौजूद चीज़ें तो पीछे की ओर ढकेली जाती हैं। इस तथ्य को चूंकि नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता, इसलिए परिस्थितियों को

समझने के लिए हम एक बल के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं।

इस समस्या को समझने के लिए दूसरा नज़रिया ज़्यादा सुगम पड़ता है। इसलिए दूसरे नज़रिए के हिसाब से कार में सभी वस्तुओं पर अचानक पीछे की ओर एक बल लगने लगता है। इस छद्म बल को जड़त्व बल (Inertial Force) भी कहा जाता है। लगभग उसी तरह जिस तरह से गुरुत्व बल सभी वस्तुओं पर नीचे की ओर लगता है, यह जड़त्व बल फुग्गे पर भी लगता है और कार में मौजूद हवा के कणों पर भी।

हवा के कण जड़त्व बल के कारण पीछे ढकेले जाते हैं। पर कार के पिछले हिस्से से टकराने पर हवा के कण, कार के पिछले भाग में अगले भाग की तुलना में, कुछ पल के लिए अधिक इकटठे हो जाते हैं। यानी फुग्गे के पीछे की हवा का घनत्व आगे की तुलना में कुछ समय के लिए ज़्यादा हो जाता है। अब अन्य गैसों की तरह हवा का दबाव भी उसके घनत्व पर निर्भर करता है। घनत्व जितना अधिक होगा, हवा का दबाव भी उतना ही अधिक होगा।*

यानी हवा के दबाव के कारण फुग्गे पर पीछे से लगने वाला बल (F_B), आगे से लगने वाले बल (F_F) से अधिक होगा। आइए अब फुग्गे पर लगने वाले बलों का लेखा-जोखा कर लेते हैं।

फुग्गे पर ऊपर और नीचे की दिशा में लगने वाले बलः

- उत्पलावन बल ($F_{Buoyant}$)
- फुग्गे का भार (w)
- धागे का तनाव (T)

जैसा कि हम देख चुके हैं, ये सभी बल एक-दूसरे को संतुलित किए हुए हैं।

फुग्गे पर आगे और पीछे की दिशा में लगने वाले बलः

- हवा के दबाव के कारण फुग्गे के पीछे (आगे की ओर) लगने वाला बल (F_B)
- हवा के दबाव के कारण फुग्गे के आगे (पीछे की ओर) लगने वाला बल (F_I)
- जड़त्व बल ($F_{Inertia}$)
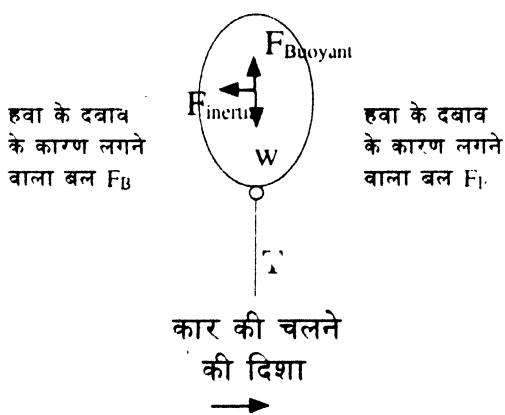
चित्र—ख: कार के चलना शुरू करने पर गुब्बारे पर लगने वाले बल

* *पहाड़ों पर हवा समुद्र तल की तुलना में विरल होती है। तभी तो समुद्र तल पर वायुमंडलीय दबाव पहाड़ों की अपेक्षा अधिक होता है।*

चित्र (ख) में गुब्बारे पर लग रहे इन सब बलों को देखा जा सकता है। अब

$F_B > F_I$

$F_B - F_I = \quad {}_{air\ pressure}$

यानी हवा के दबाव के कारण फुग्गे पर आगे की दिशा में बल लगता है।

अब, चूंकि फुग्गे में भरी गैस हवा से हल्की है, ज़ाहिर है इस गैस के कणों का जड़त्व, हवा के कणों के जड़त्व से कम होगा। अतः फुग्गे पर लगने वाला जड़त्व बल $F_{air\ pressure}$ से कम ही रहता है। यानी $F_{air\ pressure} > F_{inertia}$

फलस्वरूप, फुग्गे पर कुछ पल के लिए एक परिणामी बल आगे की दिशा में लगता है जिसके प्रभाव में फुग्गा अन्य वस्तुओं की तरह पीछे जाने के बजाए, आगे की ओर धकेला जाएगा।

इस बार का सवाल: ज़रा सिर खुजलाइए में इस बार सवाल का हल बताने के लिए आपको एक प्रयोग करके देखना होगा। एक संकरे मुंह वाली कांच की बोतल लीजिए। उसे किसी समतल जगह पर रखिए। फिर किसी रद्दी कागज़ के छोटे से टुकड़े को मोड़कर एक गोली बना लीजिए। ध्यान रहे कि गोली बोतल के मुंह से छोटी हो।

इस गोली को बोतल के मुंह के थोड़ा-सा भीतर रखिए और बोतल के मुंह में ज़ोर से फूंक मारिए।

फूंक मारने पर गोली अंदर चली गई क्या? और ऐसा क्यों हुआ? यही इस बार आपको बताना है।

सवालीराम:

सवालीराम जी, बताइए कि सर्दी-ज़ुकाम क्यों होता है?

— कुंती परते, होशंगाबाद

यदि आपके पास इन दोनों सवालों के या इनमें से किसी भी एक सवाल का जवाब हो तो हमें इस पते पर अपना जवाब भेजिए।

संदर्भ
द्वारा एकलव्य
कोठी बाज़ार, होशंगाबाद म. प्र.
पिन 461001

बाल विज्ञान पत्रिका

जुलाई 1985 से मार्च 1998 तक के

चुनिन्दा 100 अंक उपलब्ध हैं,

केवल **450.00** रुपए में, रजिस्टर्ड डाक से।

इन अंकों में है:
विज्ञान, इतिहास और अन्य विषयों पर रोचक लेख, माथापच्ची, पेड़-पत्तियों पर रोचक जानकारी, खेल-खिलौने बनाने की तरकीबें, मज़ेदार धारावाहिक, बच्चों की अपनी रचनाएं, कविताएं, कहानियां और भी बहुत कुछ

कृपया 450.00 रुपए ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से
एकलव्य के नाम में, इस पते पर भेजें –

एकलव्य
ई – 1/ 25 अरेरा कॉलोनी, भोपाल, 462016 म.प्र.
फोन : 563380

बंगाल में इस्लाम का फैलना।

स्थापित मतों पर पुनः विचार

रिचर्ड ईटन

धर्म और भूगोल के बीच एकदिलचस्प रिश्ता है। धार्मिक विश्वासों के वितरण का नक्शा बहुत कुछ कहता है, उन विश्वासों के इतिहास के बारे में। प्राचीन साक्ष्य या स्रोत उपलब्ध न हों या कमज़ोर हों तो इतिहासकार मानचित्रों के द्वारा अपनी परिकल्पनाओं को जांच-परख सकता है। इस बात का सटीक उदाहरण ईटन के इस लेख में देख सकते हैं।

यह लेख रिचर्ड ईटन की चर्चित पुस्तक *'द राइज़ ऑफ इस्लाम एंड द बंगाल फ्रंटियर'* से अनुदित किया गया है। यह पुस्तक एक व्यापक सवाल का अध्ययन है – जनसामान्य के धार्मिक आस्थाओं में बड़े पैमाने पर परिवर्तन कैसे आता है; परिवर्तन क्यों आता है; किस तरह आता है और किन बातों में आता है? इस अध्ययन के लिए 'केस स्टडी' के रूप में उन्होंने बंगाल, खासकर पूर्वी बंगाल, के इस्लामीकरण को चुना है जहां का कृषक समाज आज मुख्य रूप से इस्लाम धर्म को मानता है।

प्रस्तुत लेख अकाट्य प्रमाणों के आधार पर स्थापित करता है कि सामान्य लोग अपना धर्म या विश्वास, भय, लालच या उत्तेजना में आकर नहीं बदलते। ऐसा सोचना ही उनके ईमान की तौहीन है। सामान्य लोग और उनके विश्वासों के अध्ययन में ईटन का सबसे बड़ा योगदान इसी बात में है।

धार्मिक परिवर्तन के बारे में ईटन के निष्कर्ष क्या हैं इस पर हम आगे के अंकों में और चर्चा करेंगे।

– सपादक

> "1872 की जनगणना से सर्वाधिक रुचिकर तथ्य यह उभरा कि निचले बंगाल के मुसलमान पुरानी राजधानियों के इर्द-गिर्द नहीं बल्कि डेल्टा के उर्वर मैदान में बसे थे।"
>
> *जेम्स वाइज़, सन् 1899*

भारत में इस्लाम का फैलना: चार परंपरागत सिद्धांत

भारत में इस्लाम के विकास की व्याख्या करने वाले सिद्धांत चार तरह के तर्कों में विभाजित किए जा सकते हैं, हालांकि इनमें से कोई भी अपने आप में पूर्ण नहीं है।

1. प्रवासी सिद्धांत:

प्रथमतः जिसे मैं 'प्रवासी सिद्धांत' कहूंगा। वास्तव में यह धर्मांतरण का सिद्धांत नहीं है क्योंकि इस मत ने इस्लामीकरण को वैचारिक प्रसरण का नहीं बल्कि इस्लाम के मानने वालों का फैलाव समझा है। इस मत के अनुसार भारतीय मुस्लिमों का अधिकांश हिस्सा उन मुस्लिमों का वंशज है जो या तो ईरानी पठार से भूमार्ग द्वारा आए या अरब सागर के जलीय मार्ग से। यद्यपि इस तरह की कुछ प्रक्रिया ने ईरानी प्रायद्वीप और अरब सागर के समीपवर्ती क्षेत्रों के इस्लामीकरण में निस्संदेह योगदान दिया है परंतु जैसी कि आगे चर्चा करेंगे, इस तर्क का प्रयोग बंगाल में आम जनता के इस्लामीकरण की व्याख्या करने में नहीं किया जा सकता।

2. तलवार धर्म:

भारत में इस्लामीकरण की व्याख्या के सर्वाधिक पुराने सिद्धांत को मैं 'तलवार धर्म' सिद्धांत कहना चाहूंगा। यह भारत के अलावा दूसरे देशों में भी इस्लाम के प्रसार में सैनिक शक्ति की भूमिका पर बल देता है। मध्यकालीन धर्मयुद्धों के समय से प्रचलित इस विचारधारा को 19वीं सदी में बड़ा समर्थन मिला जब मुसलमानों पर यूरोपीय साम्राज्यवादी प्रभाव अपनी चरम सीमा पर था। इसके बाद 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विश्वव्यापी इस्लामी सुधार आंदोलन के दौरान भी इसे काफी महत्व मिला। इसका सामान्य सुर 19वीं और 20वीं सदी के *ओरिएंटलिस्ट* विद्वानों द्वारा सातवीं सदी में अरब में इस्लाम के उत्थान की व्याख्या के उत्तेजक सुर से मेल खाता है। उदाहरणार्थ सन् 1898 में सर विलियम म्यूर द्वारा लिखित पंक्तियों को देखें:

"युद्ध की खुशबू ने ही अरब कबीलों की सुप्त ऊर्जा को उत्सुक वफादारी में बदल दिया। योद्धाओं के बाद योद्धा, पलटन के बाद पलटन, पूरे-के-पूरे कबीलों की अंतहीन शृंखला, औरतों और बच्चों के साथ युद्ध के लिए निकल पड़ी। जीते गए शहरों, गणना से परे की लूट की रकम और हर व्यक्ति के लिए एक या दो कुंवारी युवतियों की उपलब्धता की रोचक और अनोखी कहानियां नये कबीलों के इसमें शामिल होने के कारण बने। छत्तों से निकली मधुमक्खियों या टिड्डों के उड़ान दल की तरह – ये कबीले बहुत बड़ी संख्या में पहले उत्तर की ओर, और वहां से पूर्व और पश्चिम की ओर फैल गए।"

मगर ऐसे सनसनीखेज बयान के बाद अरब विजयों की व्याख्या करने के प्रयास में म्यूर बहुत कम ठोस तथ्य दे पाते हैं। बल्कि वे सरलता से अरबों की 'युद्ध खुशबू', 'लूट' के प्रति आकर्षण और 'एक या दो कुंवारी युवतियों' के वादे पर बल देते हैं। असल में म्यूर जुझारू और पुनरुत्थानवादी इस्लाम के बेकाबू हो जाने की आशंका से ग्रस्त थे। इस आशंका के पीछे न केवल मध्यकालीन यूरोपीय पूर्वाग्रह थे जो इस्लाम को युद्ध और सेक्स से जोड़ते थे बल्कि यह भय भी था कि पुराने यूरोपीय साम्राज्यों के शासित मुसलमान टिड्डीदल की तरह उठ खड़े होकर यूरोपियों को यूरोप में वापस ठेल देंगे। आखिर सर विलियम म्यूर स्वयं भी तो औपनिवेशिक भारत में वरिष्ठ अधिकारी तथा ईसाई मिशनरी आंदोलन के आक्रामक कार्यकर्त्ता थे!

अगर औपनिवेशिक अधिकारी यह कल्पना कर सकते थे कि इस्लाम के विकास का कारण इसका जुझारुपन था, तो भारत में भी इसके विस्तार की इसी तर्ज़ पर व्याख्या करना स्वाभाविक था।

फिर भी, जैसे कि पीटर हार्डी ने कहा है, वे लोग जिनका तर्क है कि भारतीय मुसलमानों का बलात धर्मांतरण हुआ था सामान्यतः 'बल' या 'धर्मांतरण' को परिभाषित करने में असफल रहे हैं। वे लोगों को यह मानने के लिए छोड़ देते हैं कि कोई समाज तलवार के दबाव में आकर, अपना धार्मिक स्वरूप बदल सकता है और बदल ही लेगा। वास्तव में यह कैसे होता है इस बात की सैद्धांतिक या व्यावहारिक संदर्भ में कभी भी संतोषप्रद व्याख्या नहीं की गई। बल्कि इस सिद्धांत को मानने वाले और आगे बढ़ाने वाले, इस्लामी धर्मांतरण को उत्तरी भारत में 1200 से 1760 के बीच तुर्क-ईरानी शासन के विस्तार से उलझाते हुए दिखते हैं।

इस गलतफहमी की शुरुआत संभवतः भारत में 'इस्लामी' विजय का वर्णन करती फारसी साहित्यिक रचनाओं के शाब्दिक अनुवाद से हुई।

जैसा कि योहानन फ्रायडमन ने दिखाया है इन वर्णनों में इस तरह के अस्पष्ट मुहावरे लगातार मिलते हैं जैसे 'उन्होंने इस्लाम के प्रति समर्पण किया'। इस जगह इस्लाम का अर्थ धर्म, मुस्लिम राज्य या 'इस्लाम की सेना' हो सकता है। लेकिन सामान्यतः इन गद्यांशों को उनके संदर्भ में देखने पर अंतिम दो अर्थ ही स्वीकार्य लगते हैं। विशेषतः इसलिए क्योंकि ये स्रोत सामान्यतः भारतीय-तुर्की सेना को लश्कर-ए-इस्लाम या 'इस्लाम की सेना' कहते हैं, न कि 'लश्कर-ए-तुर्कान' या तुर्कों की सेना। दूसरे शब्दों में यह भारतीय मुस्लिम राज्य और विशेषकर इसकी सैनिक शक्ति थी जिसके प्रति लोगों ने समर्पण किया, न कि इस्लाम धर्म के प्रति।

यह सिद्धांत दक्षिण एशिया के धार्मिक भूगोल पर भी फिट नहीं बैठता। अगर इस्लामीकरण सैनिक या राजनैतिक बल से हुआ तो यह आशा की जाएगी कि वे सभी क्षेत्र जो मुस्लिम राजवंशों के प्रभाव क्षेत्र में सबसे लंबे समय तक रहे – अर्थात जो पूर्णतः 'तलवार' के सामने थे – वहां आज मुसलमानों की संख्या ज़्यादा होनी चाहिए। मगर मामला बिलकुल उल्टा है। उदाहरणार्थ – पूर्वी बंगाल या पश्चिमी पंजाब, जहां इस्लामीकरण अधिक हुआ, भारतीय मुस्लिम शासन की बाहरी सीमा पर थे – जहां तलवार की धार दुर्बल थी और जहां क्रूर बल का प्रभाव भी न्यून रहा होगा।

इन क्षेत्रों में प्रथम जनगणना रिपोर्ट (1872) ने मुस्लिम जनसंख्या को कुल जनसंख्या के 70 से 90 प्रतिशत के बीच दर्शाया। जबकि मुस्लिम शासन के केन्द्र, गंगा के ऊपरी मैदान में (दिल्ली-आगरा के क्षेत्र में), जहां इस्लामी शासन सर्वाधिक सघन और लंबे समय तक था, इस्लामी जनसंख्या 10 से 15 प्रतिशत के बीच ही थी। दूसरे शब्दों में पूरे प्रायद्वीप में मुस्लिम राजनैतिक सत्ता की मात्रा तथा इस्लामी धर्मान्तरण की मात्रा में विपरीत संबंध दिखते हैं। यहां तक कि बंगाल में भी यही बात देखी जा सकती

अगर इस्लामीकरण सैनिक या राजनैतिक बल से हुआ तो यह आशा की जाएगी कि वे सभी क्षेत्र जो मुस्लिम राजवंशों के प्रभाव क्षेत्र में सबसे लंबे समय तक रहे – अर्थात जो पूर्णतः 'तलवार' के सामने थे – वहां आज मुसलमानों की संख्या ज़्यादा होनी चाहिए। मगर मामला बिलकुल उल्टा है।

है। जैसा कि 1901 की जनगणना से पता चलता है:

"इन पूर्वी ज़िलों में से कोई भी जगह मुसलमान शासकों के मुख्यालय के रूप में प्रसिद्ध नहीं है। ढाका में नवाब का निवास लगभग सौ वर्षों तक था परंतु यहां की मुस्लिम आबादी फरीदपुर ज़िले के सिवा, आस-पास के और किसी भी ज़िले की तुलना में कम है। मालदा और मुर्शिदाबाद पुरानी राजधानियां थीं और यहां मुस्लिम शासन का केन्द्र लगभग साढ़े चार सौ वर्षों तक रहा, तब भी इनके पास के ज़िलों दीनाजपुर, राजशाही तथा नादिया की तुलना में यहां की मुस्लिम आबादी का प्रतिशत कम है।"

इस जगह यह भी सुझाया गया है कि मुस्लिम सत्ता के केन्द्र से निकटता ने वास्तव में कई जगहों पर इस्लामीकरण को समर्थन देने की जगह अवरुद्ध किया। एस. एल. शर्मा और आर. एन. श्रीवास्तव के अनुसार राजस्थान के आंशिक रूप से धर्मांतरित 'मेव' समुदाय के प्रति मुगल दमन ने उस समुदाय की मुस्लिम पहचान को मज़बूत नहीं किया, बल्कि इस्लाम के प्रति उनके विरोध को ही सुदृढ़ किया।

3. संरक्षण सिद्धांत:

भारत में इस्लामीकरण की व्याख्या करने हेतु सामान्य तौर पर विकसित तीसरे सिद्धांत को मैं 'संरक्षण सिद्धांत' कहूंगा। इसमें ऐसा कहा जाता है कि मध्यकालीन भारतीयों ने शासक वर्ग से धर्मेतर लाभ मसलन, करों में छूट, शासन में पदोन्नति आदि प्राप्त करने हेतु इस्लाम स्वीकार कर लिया। यह सिद्धांत पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त धर्म निरपेक्ष समाज शास्त्रियों को हमेशा प्रिय रहा है और उनकी नज़र में कोई भी धर्म कुछ गैर धार्मिक कारकों पर निर्भर है, जिसके मूल में सामाजिक प्रतिष्ठा या अपना स्तर ऊंचा करने की इच्छा होती है।

भारतीय इतिहास के अनेक उदाहरण इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं। 14वीं सदी के प्रारंभ में इब्न बतूता लिखता है कि भारतीय अपने आपको खलजी सुल्तानों के समक्ष नवदीक्षितों (अभी-अभी धर्मान्तरित) के रूप में प्रस्तुत करते थे और सुल्तान उन्हें उनके स्तर अनुरूप सम्मान सूचक पोशाक से पुरस्कृत करते थे। 19वीं सदी की जनगणनाओं से यह पता चलता है कि उत्तरी भारत के अनेक ज़मींदारों ने भूराजस्व की गैर अदायगी पर मिलने वाली कैद से बचने के लिए या पैतृक संपत्ति को परिवार में ही रख सकने के लिए, अपने आपको मुसलमान घोषित कर दिया था। इस सिद्धांत को उन समूहों पर भी लागू कर सकते हैं जिन्हें मुस्लिम शासकों ने रोज़गार दिया था तथा जिन्होंने बिना औपचारिक धर्मांतरण के भी काफी कुछ इस्लामी

संस्कृति को अपना लिया था।

गंगा के मैदान में कायस्थ तथा खत्री, महाराष्ट्र में पारसी और सिंध में आमिलों ने सरकार की प्रशासनिक सेवकों तथा बाबुओं की ज़रूरत पूरी करते समय काफी कुछ इस्लामी संस्कृति के तत्वों को अपनाया। अज़ीज़ अहमद इस प्रक्रिया की तुलना 19वीं और 20वीं सदी के 'पश्चिमीकरण' से करते हैं। इसी तरह दासों और युद्ध में बंदी बनाए गए सैनिकों की संस्कृति में परिवर्तन भी एक अलग पहलू है। परिवार से दूर और घर-गांव के स्थानीय सामाजिक सांस्कृतिक बंधनों के अभाव में कोई आश्चर्य नहीं कि ये लोग अपने संरक्षकों के सांस्कृतिक घेरे में आ गए हों।

यद्यपि यह मान्यता भारत के राजनैतिक केन्द्र में कम इस्लामीकरण की व्याख्या तो कर सकती है परंतु राजनैतिक सत्ता की सीमाओं के पास पंजाब और बंगाल में हुए बृहत स्तरीय धर्मांतरण की व्याख्या नहीं कर सकती। 'तलवार के प्रभाव' की तरह राजनैतिक संरक्षण का प्रभाव भी राजनैतिक मुख्यालय से दूरी बढ़ने पर, बढ़ने की जगह घटा ही होगा। असल में हमें एक ऐसे सिद्धांत की ज़रूरत है जो न केवल मुस्लिम सत्ता के केन्द्र तथा अभिजात्य वर्ग के बीच हुए इस्लामीकरण की व्याख्या करे बल्कि इससे दूर लाखों किसानों के बीच हुए व्यापक इस्लामीकरण को भी समझाए।

4. सामाजिक मुक्ति सिद्धांतः

इस जगह एक चौथा सिद्धांत उपयोग में आता है जिसे मैं 'सामाजिक मुक्ति दिलाने वाले धर्म का सिद्धांत' कहूंगा। ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा रचित, पाकिस्तान और बांग्लादेशीय नागरिकों द्वारा 'पुष्पित पल्लवित' तथा दक्षिण एशिया के अनगिनत पत्रकारों, विशेषतः मुस्लिमों, द्वारा समर्थित यह सिद्धांत काफी लंबे समय तक इस उपमहाद्वीप में इस्लामीकरण की सबसे स्वीकृत व्याख्या करता रहा है। इस सिद्धांत के अनुसार हिन्दू जाति व्यवस्था लंबे काल से परिवर्तनहीन तथा अपनी निम्न जातियों के प्रति भेदभावपूर्ण रही है।

ऐसा कहा गया कि सदियों तक इन निम्न जाति के लोगों को ऊंची जातियों, विशेषतः ब्राह्मणों, के दमनकारी और क्रूर शासन में रहना पड़ा। जब इस्लाम अपने साथ सामाजिक समानता का संदेश लाया, जिसका प्रचार सूफी शेखों ने किया था, तो अब तक वर्जित सामाजिक समानता के प्रति जागरूक ये दलित जातियां ब्राह्मणवादी दमन से बचने के लिए सदल-बल इस्लाम में धर्मांतरित हो गईं।

इस सिद्धांत के अन्तर्गत 'इस्लाम में अंतर्निहित न्याय की भावना' तथा

सन् 1872 में बंगाल में मुस्लिम आबादी का वितरण*
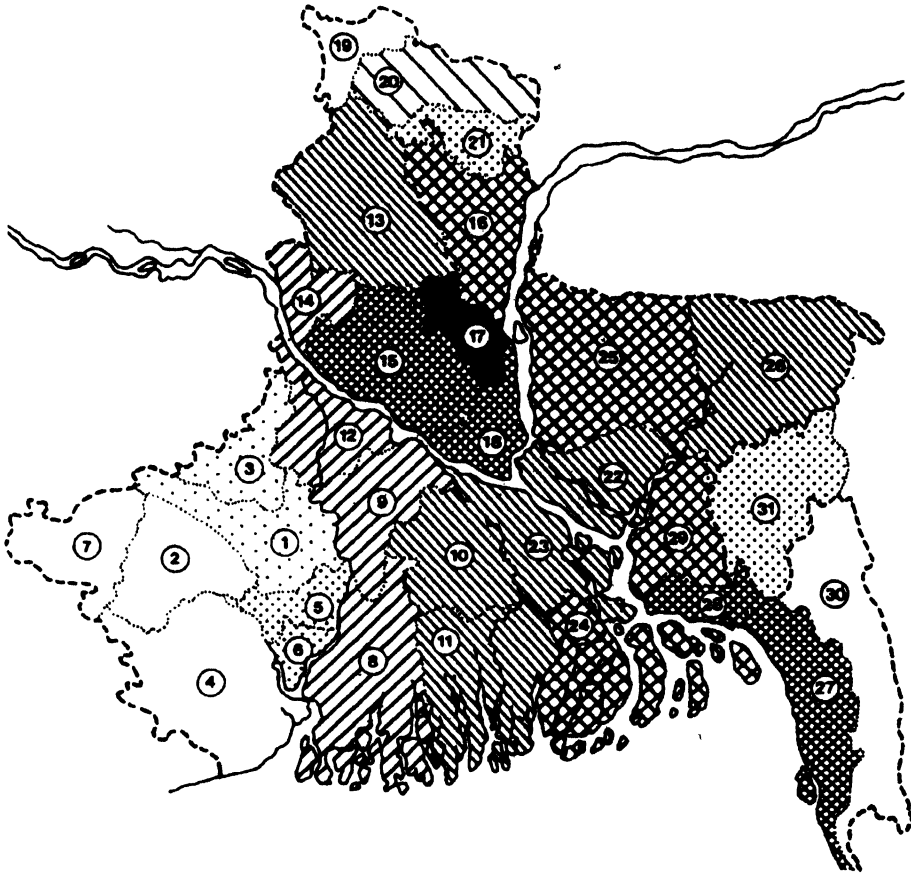
1. बर्दवान, 2. बांकुरा, 3. बीरभूम, 4. मिदनापुर, 5. हुगली, 6. हावड़ा, 7. मानभूम, 8. चौबीस परगना, 9. नादिया, 10. जेसोर, 11. खुलना, 12. मुर्शिदाबाद, 13. दीनाजपुर, 14. मालदा, 15. राजशाही, 16. रंगपुर, 17, बोगरा, 18. पाबना, 19. दार्जिलिंग, 20. जलपाईगुड़ी, 21. कूच बिहार, 22. ढाका, 23. फरीदपुर, 24. बकारगंज, 25. मैमनसिंह, 26. सिलहट, 27. चटगांव, 28. नौआखाली, 29. कुमिल्ला, 30. चटगांव पहाडी, 31. त्रिपुरा

80-90%
70-80%
60-70%
50-60%
40-50%
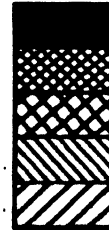
30-40%
20-30%
10-20%
0-10%

* 1872 की पहली जनगणना के आधार पर

'हिन्दू समाज की अंतर्निहित दुष्टता' को आमने-सामने कर धर्मांतरण हेतु ऐसे मंतव्य खोजने का प्रयास दिखता है जो मुस्लिम दृष्टिकोण में अत्यंत ही प्रशंसनीय हैं। मगर यहां समस्या यह है कि इस सिद्धांत के समर्थन में कोई साक्ष्य नहीं पाया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह स्पष्टतः तर्क से परे भी है। प्रथमतः यह आज के मूल्यों को अतीत के लोगों पर थोपना है। इससे ऐसा लगता है कि मुस्लिम संपर्क से पूर्व भारत की निम्न जातियां संपूर्ण मानवता की मौलिक समानता के बारे में उसी तरह के विचार रखती थीं जैसे कि रूसो तथा थॉमस जेफर्सन के लेखन में प्रतिपादित हैं।

जबकि वास्तव में मध्यकालीन मुस्लिम बुद्धिजीवियों ने इस्लाम और भारतीय धर्मों पर विचार करते हुए अपने धर्म की सामाजिक समानता का हिन्दुओं की असमानता के विरुद्ध चित्रण नहीं किया था बल्कि इस्लाम के 'एकेश्वरवाद' तथा हिन्दुओं के 'बहुईश्वरवाद' के बीच विरोध पर बल दिया था। अतः दोनों सभ्यताओं की तुलना करने का उनका ढांचा धार्मिक था, न कि सामाजिक।

वास्तव में यह विचार कि इस्लाम सामाजिक समानता का उन्नायक है, बहुत हाल की धारणा है जो फ्रांसीसी क्रांति की बौद्धिक विरासत के रूप में 19वीं सदी के मुस्लिम सुधारकों में दिखाई देती है।

दूसरे अगर यह मान भी लें कि भारतवासी मानव-मात्र की मौलिक समानता में विश्वास रखते थे तथा इस्लाम को उनके समक्ष सामाजिक समानता वाली विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया गया था, हालांकि दोनों ही बातें गलत प्रतीत होती हैं। इसके पर्याप्त उदाहरण हैं कि वे निम्न जातियां धर्मांतरण के उपरांत भी अपनी सामाजिक हैसियत को उठाने में असफल रहीं। इसके विपरीत वे मुस्लिम समाज में अपनी पहले की जातिगत पहचान के साथ पहुंचीं। यह बंगाल के लिए विशेष रूप से सत्य है।

जैसा कि जेम्स वाइज़ ने 1883 में लिखा, "भारत के अन्य भागों में सफाई का काम अछूत हिन्दुओं द्वारा किया जाता है। लेकिन बंगाल में मुसलमानों को ही ऐसे वीभत्स काम करने पड़ते हैं। मुसलमान ग्रामों के बेलदार (मरे जानवरों को हटाने वाले) हिन्दू ग्रामों में भुइमालियों की तरह ही हैं तथा यह संभावना से परे नहीं है कि इनके पूर्वज भी इसी घृणित जाति के हों।"

अंततः तलवार धर्म तथा संरक्षण सिद्धांत की तरह 'सामाजिक मुक्तिवादी धर्म सिद्धांत' को भी भूगोल के तथ्य गलत बताते हैं। 1872 में जब प्रथम

दक्षिणी एशिया के मुसलमानों का वर्तमान वितरण स्पष्ट संकेत देता है कि इस सिद्धांत के पूर्वानुमान पूर्णतः गलत हैं क्योंकि, ब्राह्मणवादी सभ्यता के कम संपर्क में रहे इन क्षेत्रों में अधिक इस्लामीकरण हुआ। चूंकि भारत के सीमावर्ती क्षेत्र में रहने वाले लोग ब्राह्मणों की सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव में पूर्णतः नहीं आए थे, तो उनके इस दमनकारी व्यवस्था से छुटकारा पाने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

विश्वसनीय जनगणना हो रही थी, मुसलमानों का जमाव सर्वाधिक पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा क्षेत्र तथा बलूचिस्तान में पाया गया। इन क्षेत्रों के संबंध में विशेष बात यह है कि ये न सिर्फ मुस्लिम सत्ता केन्द्र से काफी दूर थे बल्कि इस्लाम से संपर्क के समय यहां की जनता हिन्दू या बौद्ध सामाजिक व्यवस्था से भी पूर्णतः जुड़ी नहीं थी। बंगाल में इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले लोग मूलतः राजवंशी, पोड, चांडाल, कच और अन्य स्थानीय समुदायों से थे जिनका संपर्क ब्राह्मण संस्कृति से बहुत कम था। इसी तरह पंजाब के मुसलमानों का बड़ा वर्ग उन अनेक जाट वंशों से आया है जो ब्राह्मण व्यवस्था के प्रभाव में नहीं थे।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पांचवीं-छठी सदी ई. पू. का उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथ 'बौधायन धर्मसूत्र' स्वघोषित 'स्वच्छ' जातियों के मानदंड को अपनाते हुए उपमहाद्वीप को तीन वृत्तों में विभाजित करता है – एक के बाहर दूसरा और उसके बाहर तीसरा। प्रत्येक में विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक समुदाय रहते हैं। इनमें से प्रथम है आर्यावर्त जो ऊपरी गंगा-जमुना क्षेत्र में फैला है और जहां ब्राह्मणवादी परंपरा के 'शुद्धतम' उत्तराधिकारी रहते हैं; जो अपने आप के बारे में मानते हैं कि वे उच्च जाति के हैं और पवित्र हैं।

दूसरे भाग में बाहरी क्षेत्र हैं (अवंति, अंग, मगध, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपवृत और सिन्धु-सौवीर) जो आधुनिक मालवा, पूर्वी और मध्य बिहार, गुजरात, दक्कन तथा सिंध में फैला है। यह क्षेत्र आर्यों की परिधि में है पर यहां के निवासी

'मिश्रित उत्पत्ति' के हैं और इन्हें उतना पवित्र नहीं माना गया, जितना कि प्रथम क्षेत्र के लोगों को।

तीसरे भाग में वे बाहरी क्षेत्र हैं जहां इतने गंदे तथा 'अपवित्र' कबीले रहते हैं कि उन क्षेत्रों का भ्रमण करने वालों के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था की गई। इस तीसरे भाग के रहवासी पंजाब के अरट्ट, दक्षिणी पंजाब व सिंध के सौवीर, उत्तर बंगाल के पुण्ड्र और मध्य तथा पूर्व बंगाल के वंग थे।

सामाजिक मुक्ति का सिद्धांत यह मानकर चलता है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था ऊंच-नीच के भेद से भरी थी तथा इसके शीर्ष पर दमनकारी ब्राह्मण जमे हुए थे।

लेकिन अगर यह सिद्धांत सही होता तो इस्लाम में धर्मांतरण की सर्वाधिक घटना तार्किक रूप से आर्यावर्त के उस हृदय क्षेत्र में होनी चाहिए थी जहां ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था जड़ जमाए बैठी थी। इसके विपरीत इस्लाम के समर्थक उन क्षेत्रों में बहुत ही कम होने चाहिए थे जिनका ब्राह्मणवादी सभ्यता से कम संपर्क था और जो बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार सबसे बाहरी घेरे में थे।

परंतु ये मूलतः बाहरी घेरे के वही क्षेत्र हैं जहां दक्षिणी एशिया के मुसलमानों का अधिकांश हिस्सा रहता है। अतः दक्षिणी एशिया के मुसलमानों का वर्तमान वितरण स्पष्ट संकेत देता है कि इस सिद्धांत के पूर्वानुमान पूर्णतः गलत हैं क्योंकि, ब्राह्मणवादी सभ्यता के कम संपर्क में रहे इन क्षेत्रों में अधिक इस्लामीकरण हुआ। चूंकि भारत के सीमावर्ती क्षेत्र में रहने वाले लोग ब्राह्मणों की सामाजिक व्यवस्था

ब्रिटिश गतिविधियों का केन्द्र हिन्दू बहुल क्षेत्र दक्षिण—पश्चिम बंगाल में था और उनके लिए 19वीं सदी में बंगाल के पूर्वी ज़िले बृहत और दूरवर्ती थे, जहां की संस्कृति से वे बिल्कुल अपरिचित थे। फलतः जब प्रांत की 1872 की प्रथम सरकारी जनगणना में चटगांव, नोआखाली, पाबना तथा राजशाही ज़िलों में मुसलमानों की आबादी कुल जनसंख्या के 70 प्रतिशत से अधिक तथा बोगरा ज़िले में 80 प्रतिशत से भी अधिक दिखी तो वे बेहद आश्चर्य-चकित हुए।

प्रभाव में पूर्णतः नहीं आए थे, तो उनके इस दमनकारी व्यवस्था से छुटकारा पाने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

मुस्लिम आबादी कहां और कितनी

अंग्रेज़ों की चेतना में बंगाल की पूरी मुस्लिम आबादी का चित्र काफी देर से उभरा। ब्रिटिश गतिविधियों का केन्द्र हिन्दू बहुल क्षेत्र दक्षिण—पश्चिम बंगाल में था और उनके लिए 19वीं सदी में बंगाल के पूर्वी ज़िले बहुत बड़े और दूर-दूर तक फैले हुए थे, जहां की संस्कृति से वे बिल्कुल अपरिचित थे।

फलतः जब प्रांत की 1872 की प्रथम सरकारी जनगणना में चटगांव, नोआखाली, पाबना तथा राजशाही ज़िलों में मुसलमानों की आबादी कुल जनसंख्या के 70 प्रतिशत से अधिक तथा बोगरा ज़िले में 80 प्रतिशत से भी अधिक दिखी तो वे बेहद आश्चर्यचकित हुए।

1894 में प्रांत के एक अनुभवी सरकारी अधिकारी जेम्स वाइज़ ने लिखा, "1872 की जनगणना से सर्वाधिक रुचिकर तथ्य यह उभरा कि बंगाल में मुस्लिम निवासियों का समूह निचले बंगाल में पुरानी राजधानियों के इर्द-गिर्द नहीं बल्कि डेल्टा के उर्वर मैदान में बसा था।" उसने आगे लिखा, "निचले और पूर्वी बंगाल में इस्लाम के प्रसार का इतिहास आज इतना महत्वपूर्ण है कि उसके एक सूक्ष्म व गहन अध्ययन की आवश्यकता है।"

निश्चित ही इस विषय का सूक्ष्म अध्ययन किया गया। 1872 की जनगणना ने एक गरमागरम बहस की शुरुआत की जो 20वीं सदी में भी जारी रही। जनगणना अधिकारी हेनरी बेवरली ने स्वयं इस बहस की शुरुआत की। मुस्लिम सत्ता के पुराने क्षेत्रों से दूर मुसलमानों की बहुसंख्या पाए जाने के असंगत तथ्य पर गौर करते हुए उसने लिखा, "बंगाल में मुसलमानों का अस्तित्व इस देश में मुगलों के प्रवेश की वजह से उतना नहीं है जितना कि पुराने बाशिंदों के धर्मांतरण की वजह से, क्योंकि इनके लिए कठोर जाति व्यवस्था के चलते हिन्दू-धर्म असहनीय हो गया था।"

संक्षेप में उसने 'प्रवासी सिद्धांत' को खारिज़ किया तथा 'सामाजिक मुक्ति सिद्धांत' के प्रारंभिक प्रारूप की रूपरेखा खींची। तब से यह सिद्धांत इस प्रांत में इस्लामीकरण के विषय में ब्रिटिश सोच पर हावी हो गया और बाद में ज़्यादातर मुसलमान भी इस पर यकीन करने लगे।

व्याख्या को चुनौती

लेकिन बेवरली की व्याख्या चुनौतीविहीन नहीं रही। 1872 की

जनगणना के निष्कर्षों के प्रकाशन के तुरंत बाद मैमनसिंह ज़िले के एक मुस्लिम भद्र पुरुष अबू गज़नवी ने अपने ज़िले के कलेक्टर को एक रिपोर्ट दी जिसमें उसने बेवरली के इस कथन का कि 'बृहत स्तरीय धर्मांतरण' हुआ है, कड़ा विरोध जताया। गज़नवी ने बताया, "आधुनिक मुसलमानों में से अधिकांश चांडालों और कैवर्तों के वंशज नहीं हैं बल्कि विदेशी मूल के हैं, यद्यपि. अनेक मुसलमानों में इस विदेशीपन की मात्रा कम या अधिक हो सकती है।"

अपने कथन के पक्ष में गज़नवी ने कई उदाहरण दिए जैसे: तुर्कों की विजय के पूर्व अरबों का आकर बसना, सुल्तान हुसैन शाह द्वारा विदेशियों को भूमि अनुदान देना, मुगलों की विजय के बाद 'हर बस्ती' में अफगानों का बसना, मुसलमानों में बहु-पत्नि प्रथा, विधवा विवाह, अतिदीर्घायुता एवं संस्थागत ब्रह्मचर्य की अनुपस्थिति से उपजी अधिक जनन उर्वरता आदि। उन्होंने यह भी माना कि कुछ धर्मांतरण भी हुआ है परंतु बलपूर्वक निम्न जातियों के धर्मांतरण से इंकार किया। "हम केवल निम्न हिन्दू जातियों के धर्मांतरण की ही बात क्यों करें"

उन्होंने पूछा, "हमें विभिन्न ज़िलों, विशेषकर मैमनसिंह के मुस्लिम राजपूत दीवानों को नहीं भूलना चाहिए — इसी तरह सिलहट के मजूमदार हैं, फरीदपुर के राजा साहब हैं, विक्रमपुर के गांगुली हैं एवं अन्य कई समूह हैं।"

गज़नवी इस तरह प्रवासी सिद्धांत की रूपरेखा तैयार कर रहे थे। यह मत पूरे भारत में अशरफ वर्ग को प्रिय रहा है। जहां तक स्थानीय स्तर पर धर्मांतरण की बात है गज़नवी ने तर्क दिया कि वह निम्न और अपवित्र जातियों से नहीं वरन हिन्दू समाज के ऊच्च वर्ग से हुआ था।

20वीं सदी की शुरुआत में यह भी दावे किए गए कि मुगलकाल में बंगाल के ज़मींदारों और कुछ पुरोहित जातियों ने भी इस्लाम ग्रहण किया था। खड़गपुर के राजाओं (मिदनापुर ज़िला) के विषय में कहा गया कि अकबर के एक सेना नायक से हारने के पश्चात उन्होंने इस्लाम ग्रहण कर लिया क्योंकि पारिवारिक संपत्ति इसी शर्त पर उनके पास बनी रह सकती थी। राजा पुर्दिल सिंह जो उत्तरी बिहार के दरभंगा क्षेत्र के परसौनी से थे, ने मुगल सम्राट के खिलाफ असफल विद्रोह के उपरांत इस्लाम ग्रहण कर लिया। तिप्पेरा (त्रिपुरा) के सरायल परगना के मुस्लिभ दीवान परिवार एवं मैमनसिंह के हैबात नगर तथा जंगलबाड़ी परगना के मुस्लिम परिवारों के पूर्वज भी ब्राह्मण थे। दरभंगा क्षेत्र में माझौली के पठान, नरहन राजा के

परिवार के वंशज हैं।

लेकिन ये उदाहरण मुस्लिम जनसंख्या के अति लघु खंड की ही व्याख्या कर सकते थे, जनगणना सारणी से उभरे करोड़ों मुस्लिम कृषकों की संख्या की नहीं।

ब्रिटिश व्याख्या

इसी दौरान ब्रिटिश अधिकारियों के बीच 19वीं सदी के अंतिम दशकों में इस्लामीकरण के मुद्दे पर एक आम राय बनने लगी थी। यहां हम जेम्स वाइज़, जिसने ढाका में दस वर्षों तक सिविल सर्जन के रूप में कार्य किया था, के लेखन का अध्ययन कर सकते हैं। उसने अपने विचार 'दी मुहमडन्स ऑफ इस्टर्न बंगाल' (1894) लेख में स्पष्ट किए हैं।

वाइज़ ने 'अशरफ' प्रवक्ताओं, जिनमें गज़नवी प्रमुख थे, के 'प्रवासी सिद्धांत' को खारिज करते हुए शुरुआत की। उसने लिखा, "मुस्लिम इतिहास ग्रंथों में उत्तरी भारत से बड़े पैमाने पर मुस्लिमों के बंगाल आकर बसने की कोई भी जानकारी नहीं मिलती है; और अकबर के काल में मुस्लिम आक्रमणकारी बंगाल के मौसम को इतना बुरा समझते थे कि वहां कूच करने का आदेश देश निकाले की सजा मानी जाती थी।"

इसके उपरांत वाइज़ ने विभिन्न बंगाली समूहों के मुसलमान बनने के अनेक कारण दिए हैं। सर्वप्रथम वह तलवार धर्म सिद्धांत का उल्लेख करता है और बिना किसी उदाहरण के लिखता है, "जोशीले सैनिकों ने 13वीं और 14वीं सदी में बंगाल की भीरू जातियों में इस्लाम का प्रसार किया। उन्होंने तलवार के बल पर धर्मांतरण किया और पूर्वी सीमा के घने जंगलों के अंदर प्रवेश कर सिलहट के गांवों में बलपूर्वक इस्लाम को स्थापित कर दिया।"

वह यह मत भी स्वीकार करता है कि चटगांव क्षेत्र में अरब व्यापारियों ने अपनी बस्तियां बसा ली थीं। पुनः बिना कोई संदर्भ दिए वह लिखता है कि ये व्यापारी चटगांव के समुद्रीतट पर बड़ी मात्रा में व्यापार करते थे और उन क्षेत्रों में अपने धार्मिक विचारों का प्रसार भी करते थे।

उसके विचार से पूर्वी बंगाल के गांवों से पकड़े गए गुलामों ने भी मुसलमानों की संख्या में वृद्धि की होगी क्योंकि तंग हाल और गरीब लोग बच्चों को मुसलमानों को बेचने हेतु मजबूर हुए होंगे। उसने आगे कहा कि हिन्दू भी धर्मांतरित हुए होंगे क्योंकि "यही एक मात्र रास्ता था जिसके द्वारा हत्या और व्यभिचार के दंड से बचा जा सकता था।" कहना न होगा कि ये सब सिर्फ अनुमान हैं और इनके पक्ष में कोई तथ्य नहीं पेश किए गए।

वाइज़ के लेखन का केन्द्रीय तत्व जो बंगाल के सरकारी अधिकारियों में काफी लोकप्रिय हुआ इस प्रकार था: "जब मुसलमानी सेनाएं बंगाल में प्रविष्ट हुईं तो उनका स्वागत लकड़हारों, भिश्तियों, फटेहाल चांडालों और कैवर्तों ने किया। उन्होंने हर्षपूर्वक उस धर्म को स्वीकार किया जो मानवमात्र की समानता में भरोसा रखता था और जो उस वर्ग का धर्म था जिसने उनके पूर्व के दमनकर्त्ताओं को भी अपने अधीन कर लिया था।"

"हिन्दू धर्म ने अछूतों को उस गांव में बसने से रोक रखा था जिसमें द्विज ब्राह्मण स्वयं रहते थे और जिन्होंने उन्हें वितृष्ण कार्य करने पर मजबूर कर रखा था। हिन्दू धर्म ने उनसे जानवरों जैसा व्यवहार किया और उनके प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति और दया नहीं थी परंतु इसके विपरीत इस्लाम में अमीर-गरीब, गुलाम और मालिक, किसान और राजकुमार, सभी ईश्वर की नज़र में एक समान थे। सबसे बड़ी बात कि ब्राह्मणों के पास इन दलितों में से सर्वाधिक पुण्यात्मा हेतु भी उत्तम पारलौकिक जीवन का आश्वासन न था, जबकि मुल्ला के पास इस जन्म में आदर और मरने के बाद भी दिव्यगति की प्राप्ति का आश्वासन था।"

यह कथन सामाजिक मुक्ति के सिद्धांत का जीवंत और सशक्त उदाहरण है जिसमें इस सिद्धांत के सारे आवश्यक तत्व मौजूद हैं: मसलन हिन्दू समाज व्यवस्था के अति विकसित जातीय स्तर का पूर्व-अस्तित्व, अस्पृश्य कार्यों को करने वाला दलित वर्ग, ब्राह्मणों का दमनकर्ता वर्ग और इस्लाम की सामाजिक समानतावादी विचार-धारा जो लोगों द्वारा 'हर्ष-पूर्वक' अपना ली जाएगी।

लेकिन बंगाल के 'अशरफ' मुसलमानों ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया। वे शायद वाइज़ के 'ब्राह्मणों के क्रूर दमनकर्ता रूप में चित्रण' को स्वीकार कर भी लेते मगर यह मानने को वे बिल्कुल तैयार नहीं थे कि बंगाल के मुसलमान मूलतः वहीं के निवासी थे। इसलिए 1895 में खोंडकर फज़ली रब्बी ने अपनी 'दी ऑरिजिन्स ऑफ दी मुसलमान्स ऑफ बंगाल' प्रकाशित की। इसमें, अबू गज़नवी की तरह इन्होंने भी इस बात से साफ इंकार किया कि बंगाल में कभी भी बड़े पैमाने पर लोगों का स्वेच्छा से या बल पूर्वक धर्मांतरण हुआ था।

एक और जनगणना

रब्बी की पुस्तक के प्रकाशन के तुरंत बाद 1901 की विवादास्पद जनगणना आयी जिसने पुनः उसी विचार को स्थापित किया जिसके

सन् 1931 में भारतीय उपमहाद्वीप में मुस्लिम आबादी
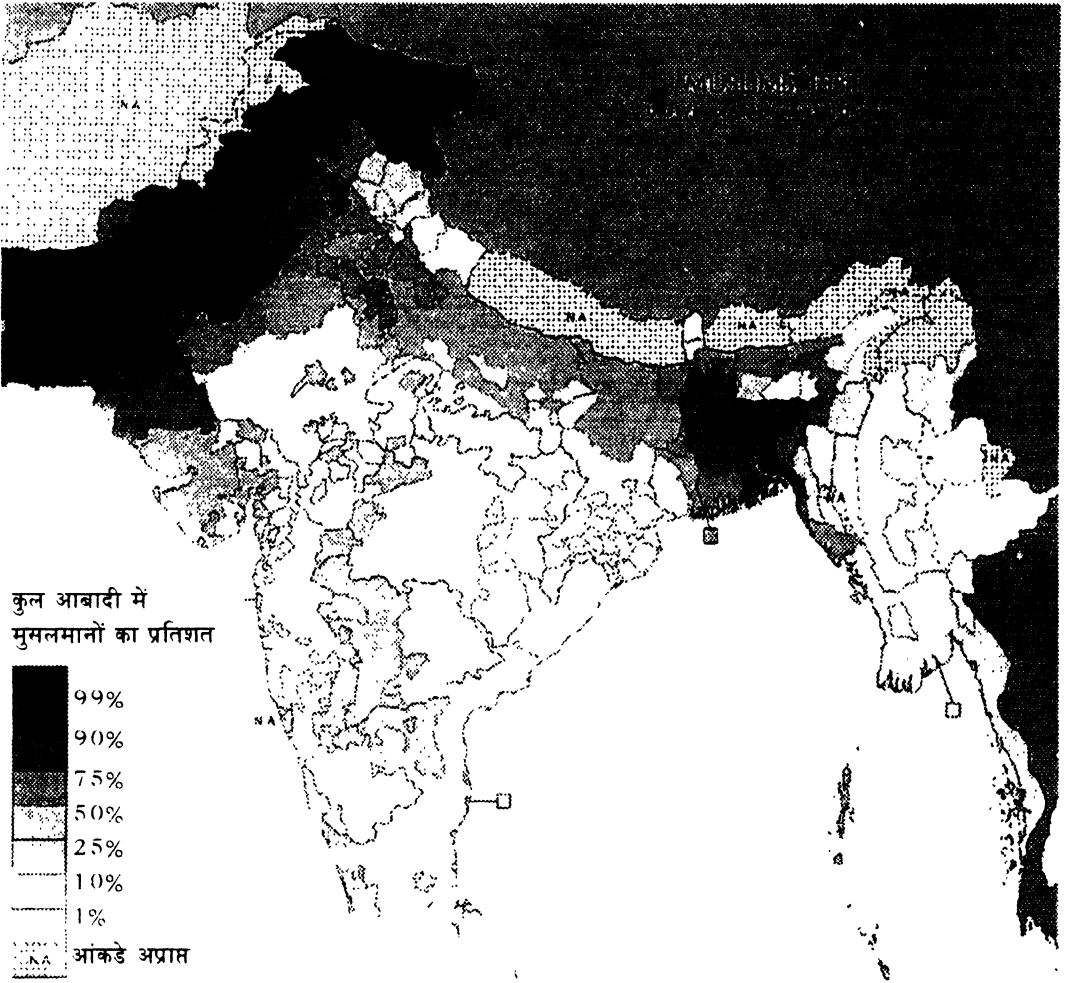
मुस्लिम जनसंख्या वितरण: 1931 में किए गए एक सर्वेक्षण पर आधारित। उस समय के भारत के लगभग सब प्रान्तों में कुछ मुस्लिम आबादी तो मौजूद थी ही, परन्तु साथ ही उत्तर-पश्तिम व उत्तर-पूर्व भारत के ज़्यादातर हिस्सों में मुस्लिम आबादी का प्रतिशत कुल जनसंख्या के पचास प्रतिशत तक था। इनमें से कुछ इलाके ऐसे भी थे जहां मुस्लिम जनसंख्या पचत्तहर फीसदी से भी ज़्यादा थी। उस समय भी यह चर्चा जोशोखरोश से जारी थी कि आखिर इन इलाकों में इस्लाम धर्म का विकास कैसे हुआ। इस संबंध में प्रचलित चारों सिद्धांतों के पक्षधर अपने अपने तर्क प्रस्तुत कर रहे थे और अन्य सिद्धांतों के सामने सवाल रखकर उन्हें चुनौती दे रहे थे।

खिलाफ गज़नवी और रब्बी ने आवाज़ उठाई थी। ई. ए. गैट ने जनगणना की अपनी रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला कि बंगाल में 10 में से 9 मुसलमान जिन्होंने अपने आपको 'शेख' बताया वे वास्तव में वहां के मूल निवासी थे। गैट का विश्वास था कि डेल्टा के बाहर की बात तो छोड़िए, बंगाल के अंदर भी शायद ही मुस्लिम आप्रवासियों के एक स्थान से जाकर दूसरे स्थान में जाकर बसने की कोई उल्लेखनीय घटना घटी हो।

उसने तर्क दिया कि इस बात का ध्यान रखते हुए कि मुस्लिम आप्रवासी ज़्यादातर पुरानी राजधानियों के आसपास की उच्च स्तरीय ज़मीन की चाहत रखते थे उन्होंने कभी नोआखाली, बोगरा और बाकरगंज जैसे दलदली चावल के क्षेत्रों में खुद से बसना नहीं चाहा होगा।

1901 की जनगणना की रपट में ई. ए. गैट ने इस बहस को आगे बढ़ाया। इस बहस में गैट का सबसे महत्वपूर्ण योगदान उसका यह अध्ययन था कि बंगाल में मुसलमानों की संख्या उन्हीं क्षेत्रों में अधिक थी जहां की सामाजिक संरचना सरल थी यानी जाति व्यवस्था सबसे कम विकसित थी। उसने बंगाल के पूर्वी भाग में मुसलमानों की स्थानीय पौड और चाण्डाल समुदायों तथा उत्तर के राजवंशी तथा कूच समुदायों से समानताओं को देखते हुए ये टिप्पणी की कि इन क्षेत्रों में हमेशा से दूसरी हिन्दू जातियों की संख्या बहुत ही कम रही है। उत्तरी बंगाल की राजवंशी (जिसमें कूच भी शामिल है) तथा पूर्व की चाण्डाल आदि जातियां मूलतः अनार्य जातियां हैं।

यह मत ढुलमुल और पूर्वाग्रह से भरे विवाद पर चल रहे वैचारिक मंथन को एक स्पष्ट दिशा दे सकता था; क्योंकि इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जहां जाति व्यवस्था कम विकसित थी वहां ब्राह्मणवादी प्रभुत्व कम था और निम्न जातियों का दमन भी कम रहा होगा। अतः इस जगह 'सामाजिक मुक्ति' का सिद्धांत लागू नहीं हो पाएगा क्योंकि इन निम्न जातियों के सामने एक सुदृढ़ ब्राह्मणवादी समाज था ही नहीं जिसके विरुद्ध वे विद्रोह करते।

लेकिन गैट ने अपने लेखन के अंतर्निहित तथ्यों से निष्कर्ष नहीं निकाले और यह कहने के सिवा कि अधिकांश मुसलमानों की उत्पत्ति स्थानीय है, उसने इस्लामीकरण का कोई भी तर्कसंगत सिद्धांत नहीं प्रस्तुत किया।

नए अध्ययन

1947 से पूर्व के दशक में तीन मानवशास्त्रीय अध्ययनों ने जो आंकड़े

प्रस्तुत किए वे गैट की राय को पुष्ट करने वाले थे। यद्यपि इनमें अध्ययन विधि, नमूना लेने की तकनीक तथा अध्ययन के क्षेत्रों में अंतर था फिर भी तीनों ही अध्ययनों के निष्कर्ष एक समान थे कि बंगाल के मुसलमान स्थानीय समुदायों के वंशज थे, न कि विदेशियों के।

सर्वप्रथम 1938 में चौबीस परगना ज़िले में एलीन मैकफरलेन ने निष्कर्ष दिया कि "बजबज के मुसलमानों के रक्त समूहों के आंकड़े स्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करते हैं कि ये निम्नजातीय हिन्दू धर्मांतरितों के वंशज हैं।"

तीन वर्ष उपरांत बी. के. चैटर्जी एवं ए. के. मित्रा ने चौबीस परगना में रक्त समूह वितरण का एक और अध्ययन प्रारंभ किया। उन्होंने न केवल निचली जाति के हिन्दू बंगालियों का देहाती मुसलमानों से तुलनात्मक अध्ययन किया बल्कि देहाती मुसलमानों का शहर के मुसलमानों व गैर-बंगाली मुसलमानों के साथ भी तुलनात्मक अध्ययन किया। चौबीस परगना के इस अध्ययन ने यह स्पष्ट किया कि ग्रामीण मुसलमानों और आस-पास के निम्नजाति के हिन्दुओं, महिष्य और बागड़ी जाति के लोगों, में निकट का संबंध है। यहां यह भी निष्कर्ष आया कि शहरी बंगाली मुसलमान उत्तर पश्चिमी सीमाप्रांत के पठानों के अधिक निकट थे, न कि ग्रामीण बंगाली मुसलमानों के। इससे शहरी मुसलमानों के इस मत को बल मिला कि वे बंगाल में आए हुए विदेशियों के वंशज हैं।

अंत में 1960 में डी. एल. मजुमदार और सी. आर. राव ने पूर्व और पश्चिमी बंगाल में 1945 में संग्रहित आंकड़ों के आधार पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने समूहों के वर्गीकरण के लिए ऊंचाई, ललाट की चौड़ाई एवं नासिका की ऊंचाई का प्रयोग किया और इस निष्कर्ष पर आए: "बंगाल में मुस्लिम आबादी की उत्पत्ति हेतु हमें आदिवासी और गैर मुस्लिम अनुसूचित जातियों के मध्य संभावना देखनी चाहिए .... विभाजन पूर्व के बंगाली मुस्लिमों का रक्त-सीरम संबंधित आंकड़ा भी इसी दिशा में संकेत देता है कि बंगाली मुसलमान न केवल भारत से बाहर के मुसलमानों से असंबद्ध हैं बल्कि उत्तर प्रदेश के शिया और सुन्नियों से भी अलग हैं।" उनका कहना था, "अगर रक्त समूह साक्ष्यों का थोड़ा भी महत्व है तो इससे मुसलमानों की स्थानीय उत्पत्ति का संकेत मिलता है।" लेखकों ने यह भी पाया कि मानवमितीय संकेतकों (खोपड़ी और नासिका के आकार) के संदर्भ में पूर्वी बंगाल के समूह, मुस्लिम

और गैर मुस्लिम दोनों ही, पश्चिमी बंगालियों से मूलतः अलग हैं। इस अंतिम खोज ने बंगाल के अंदर भी एक जगह से दूसरी जगह जाकर बसने के ऐतिहासिक महत्व को कम कर दिया।

मुस्लिम कृषक वर्ग का प्रकट होना

ऊपर वर्णित किसी भी सिद्धांत (प्रवासी, तलवार धर्म, संरक्षण और सामाजिक मुक्ति) के बहुत कम पैरवीकारों ने अपने सिद्धांत को मौलिक साक्ष्य पर आधारित रखा है। उन्होंने यह भी स्थापित करने की कोशिश नहीं की है कि कब और कहां इस्लाम पहली बार आम लोगों का धर्म बना। किसी भी सुसंगठित ऐतिहासिक सिद्धांत को कालक्रम और भूगोल के स्थापित तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। इससे पहले कि हम व्यापक इस्लामी धर्मांतरण की व्याख्या करें यह स्पष्ट तौर पर स्थापित करना आवश्यक है कि बंगाली मुस्लिम कृषक समुदाय का उद्‌भव कब और कहां हुआ था।

बंगाल में इस्लामी प्रभाव किस रास्ते से आया? अगर हम हिन्द महासागर के नक्शे पर नज़र डालें तो मध्यपूर्व एशिया के साथ इसके सामुद्रिक संबंध का आभास मिलता है।

अरब भूगोलवेत्ता, मसलन सुलेमान ताजिर (मृत्यु 815 ई), इब्न खुर्दादयीह (मृत्यु लगभग 850 ई), मसूदी (मृत्यु 956 ई) और इदरिसी (मृत्यु लगभग 1150 ई) बंगाल से परिचित थे। मसूदी तो दसवीं सदी में वहां रहने वाले उन मुस्लिम व्यापारियों का उल्लेख भी करता है जो दूर-दूर तक समुद्री व्यापार करते थे। दक्षिण पूर्वी बंगाल में चंद्र वंश (लगभग 625-1055 ई) के समय के स्थानीय सिक्कों की परंपरा और लालमई क्षेत्र से अब्बासिद सिक्कों की खोज भी इस क्षेत्र के हिन्द महासागर की व्यापक दुनिया के साथ आर्थिक जुड़ाव की ओर संकेत करता है।

उल्लेखनीय है कि उस वक्त अरब व्यापारियों का इस सागर के व्यापार पर प्रभुत्व था। परंतु सुन्नी इस्लाम की चारों न्याय प्रणालियों – हनाफी, शफीफी, मालिकी और हनाबिली के दुनिया में फैलाव के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बंगाल का इस्लामी-करण समुद्री रास्ते से नहीं हुआ था। इस्लामी दुनिया में सामान्यतः धर्मांतरित आबादी ने उसी न्याय प्रणाली को अपनाया है जो न्याय प्रणाली उनके क्षेत्र में इस्लाम लाने वालों की थी। हिन्द महासागर के व्यापार से सर्वाधिक घनिष्ठ तौर पर जुड़े दक्षिणी और पश्चिमी अरब में दसवीं शताब्दी उपरांत शफीफी न्याय प्रणाली का प्रभाव था।

इस कारण आने वाली शताब्दियों में तटवर्ती पूर्वी अफ्रीका, भारत का मलाबार तट और दक्षिण पूर्वी एशिया के द्वीपदेशों में शफीफी अरबों के व्यापारिक संपर्कों के फलस्वरूप इस्लामीकरण हुआ और 1500 ई. तक इस सारे क्षेत्र में शफीफी न्याय प्रणाली प्रभावी हो गई। अगर बंगाल में भी इस्लाम का प्रसार समुद्री यात्रा करने वाले शफीफी अरबों द्वारा हुआ होता तो बंगाली मुसलमानों ने भी शफीफी न्याय प्रणाली को ही अपनाया होता।

परंतु 1500 ई. तक और बाद में भी बंगाली मुसलमान मूलतः हनाफी थे जो तब से अब तक गंगा के मैदान और सारे मध्य एशिया में प्रभावी है। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि बंगाल का इस्लामीकरण उत्तर पश्चिम से और बरास्ते ज़मीन हुआ है।

लेकिन यह कब और कैसे हुआ? इब्न बतूता को छोड़कर सोलहवीं सदी पूर्व की सारी विदेशी स्रोत सामग्री बंगाल में सिर्फ आप्रवासी या शहरी मुसलमानों का ज़िक्र करती है। इब्न बतूता का वर्णन कुछ अलग है। वह सन् 1345 में प्रसिद्ध संत शाह जलाल से मिलने सिलहट गया था। इस प्रसिद्ध अरब यात्री ने बाद में लिखा, "इन पहाड़ों के बाशिंदों ने इस्लाम को उनके (शाह जलाल के) हाथों से स्वीकार किया और इसी वजह से वे उनके बीच रुक गए।"

लेकिन ऐसा नहीं लगता है कि इब्न बतूता यहां किसान आबादी का उल्लेख कर रहा है। उसके अनुसार जिन्होंने शाह जलाल के मार्फत इस्लाम कबूल किया था वे पहाड़ों के वासी थे, मैदानों के नहीं। ये पहाड़वासी संभवतः झूम खेती करते थे क्योंकि उसने इन लोगों को मैदानों के धान उगाने वाले कृषकों से फर्क बताया है। मैदानी कृषकों को वह स्पष्ट रूप से हिन्दू कहता है।

(सन् 1433 में बंगाल आया चीनी अधिकारी, मा हुआन भी केवल शहरी मुसलमानों का उल्लेख करता है। 1503 के बाद बंगाल आए यूरोपियों के वर्णनों में भी शहरी मुसलमानों का ही वर्णन है। - संपादक)

जहां तक ग्रामीण क्षेत्रों की बात है, यह सिर्फ सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और विशेष रूप से मुगलों की विजय (1574) के उपरांत की बात है, जब हमें बंगाल में मुस्लिम किसानों के विषय में विश्वसनीय उल्लेख प्राप्त होता है। सर्वप्रथम वेनिस के एक यात्री सीज़र फेडरिची ने 1567 में लिखा कि बंगाल के दक्षिण-पूर्वी कोने पर स्थित सोनद्वीप की संपूर्ण जनसंख्या मुस्लिम थी और इनका 'राजा' भी मुसलमान था। फेडरिची सोनद्वीप की कृषि से भी काफी प्रभावित हुआ, और

उसका मत था कि 'यह दुनिया का सर्वाधिक उर्वर द्वीप है।'

फेडरिची के दौरे के थोड़े ही दिनों बाद अप्रैल, 1599 में एक जेसुइट मिशनरी फ्रांसिस फर्नान्डेज़ ने ईसाई धर्म के प्रसार हेतु पूर्वी बंगाल में मेघना नदी के मार्ग से यात्रा की। राह में उसने स्थानीय लोगों की परंपरा का अध्ययन किया और उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करने की संभावना पर भी विचार किया। दक्षिण पूर्वी ढाका ज़िले के ग्रामीण क्षेत्र नारायणगंज पहुंचने पर फर्नान्डेज़ ने लिखा, "मैंने इस संभावना का परीक्षण करना प्रारंभ किया कि क्या वहां ईसाई धर्म का प्रचार संभव है तो मैंने पाया कि वहां के लोग लगभग सारे-के-सारे ही मुसलमान हैं।" यह डेल्टा के हृदय क्षेत्र में मुस्लिम किसानों की उपस्थिति का प्रथम संदेहातीत प्रमाण है।

17वीं सदी के अन्य कई यूरोपीय यात्रियों ने बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में मुस्लिमों के प्रकट होने पर इसी तरह के विचार व्यक्त किए हैं। वे लिखते हैं कि यहां इस्लाम का विकास हाल की घटना है और इसका आरंभ मुगल विजय के बाद से हुआ था। सन् 1629 में, जब मुगल शक्ति डेल्टा क्षेत्र में सुदृढ़ता से स्थापित हो चुकी थी, सेबास्तियो मैनरीक ने लिखा, "शुरुआती दिनों में यहां के सारे राजवंश काफिर धर्मों को ही मानते थे जैसा कि आज भी बंगाल के ज़्यादातर लोग इन धर्मों के समर्थक हैं। हालांकि कुछ लोगों ने इस क्षेत्र में मुगल शासन के आने के उपरांत अपने

सन् 1599 में एक जेसुइट मिशनरी फ्रांसिस फर्नान्डेज़ ने ईसाई धर्म के प्रसार हेतु पूर्वी बंगाल में मेघना नदी के मार्ग से यात्रा की। राह में उसने स्थानीय लोगों की परंपरा का अध्ययन किया और उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करने की संभावना पर भी विचार किया। दक्षिण पूर्वी ढाका ज़िले के ग्रामीण क्षेत्र नारायणगंज पहुंचने पर फर्नान्डेज़ ने लिखा, "मैंने इस संभावना का परीक्षण करना प्रारंभ किया कि क्या वहां ईसाई धर्म का प्रचार संभव है तो मैंने पाया कि वहां के लोग लगभग सारे-के-सारे ही मुसलमान हैं।"

काफिर धर्मों को त्याग दिया।"

सन् 1666 में फ्रेंच यात्री जॉन डे थेवनाट ने भी 17वीं सदी में प्रचलित मुस्लिम विरोधी रुख व्यक्त करते हुए करीब-करीब यही बात कही है, "यह देश (बंगाल) मुस्लिम और मुगल शासकों से पूर्व पठान शासकों के अधीन बेहतर शासित था क्योंकि तब धर्म की एकरूपता थी। अनुभवों के आधार पर यह पाया गया है कि यहां इस्लाम के आने से अव्यवस्था आई और धर्मों की विभिन्नताओं ने जीवन के तौर-तरीकों में पतन ला दिया।"

मैनरिक की तरह थेवनाट ने भी बंगाल में मुगल-पूर्व युग को मुस्लिम-पूर्व युग ही समझा। उसका मानना था कि यहां इस्लाम मुगलों के समय ही प्रभावी हो पाया था। और यह घटना उसके लिखने के समय से 100 वर्ष से भी कम पुरानी थी। यह भी महत्वपूर्ण है कि इन यूरोपीय लेखकों ने डेल्टा के सिर्फ पूर्वी भाग में ही मुस्लिम किसानों की अधिकता की चर्चा की है, पहले से ही हिन्दुकृत पुराने और पश्चिमी भाग की नहीं। क्योंकि फर्नांडिज़ (जिसने ढाका के ग्रामीण क्षेत्रों में मुस्लिम किसानों की उपस्थिति का ज़िक्र किया था) की यात्रा के ठीक सौ वर्ष बाद एक अन्य जेसुइट पादरी एस. जे. मार्टिन ने सन् 1699 में पश्चिम बंगाल के हुगली क्षेत्र की यात्रा की और देखा कि "यहां की लगभग पूरी जनता ही मूर्ति पूजक है।"

अन्य समकालीन आंकड़े भी मैनरिक और थेवनाट के इस कथन का समर्थन करते हैं कि मुगलों की विजय के पूर्व बंगाल की सामान्य जनता का इस्लामीकरण नहीं हुआ था। सबसे पहला फारसी स्रोत जिसमें इस विषय की चर्चा है, 1638 का है, जब बंगाल के मुगल गवर्नर इस्लाम खां मशहदी ने अराकान के राजा से शिकायत की थी कि पुर्तगाली नोआखाली के तट पर आक्रमण कर वहां की मुस्लिम जनता पर 'लूटमार और अत्याचार' करते हैं।

1660 के दशक के एक अन्य मुगल स्रोत काज़िम बिन मुहम्मद अमीन लिखित आलमगीरनामा कहता है कि उत्तरी बंगाल के घोड़ाघाट (जो कि आज का रंगपुर है) में अधिकांश किसान मुसलमान हैं।

सारांश

अगर 16वीं सदी के अंत या उसके बाद तक ग्रामीण इलाकों में मुसलमानों के बड़ी संख्या में होने का पता नहीं चलता है तो हमारे सामने एक विडम्बना उठ खड़ी होती है। क्या व्यापक स्तर पर इस्लामीकरण मुगलों के काल में हुआ था, जिन्होंने नीतिगत तौर पर धर्मांतरण हेतु कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई थी? कृषि पर

आधारित एक विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते हुए मुगल अधिकारियों का प्राथमिक उद्देश्य कृषि उत्पादकता को बढ़ाना था और फिर अधिकतम संभव कर उगाहकर उसका प्रयोग प्रशासन के हर स्तर पर विश्वासी व्यक्ति तैयार करने का राजनैतिक उद्देश्य पूरा करना था।

हालांकि रूढ़िवादी वर्ग 'उलेमा' हमेशा बल देता था कि सम्राट इन मूर्तिपूजक हिन्दुओं को इस्लाम में धर्मांतरित करने का अपना 'कर्त्तव्य' निभाए, परंतु इस तरह की नीति बंगाल में कभी भी लागू नहीं हो सकी, यहां तक कि रूढ़िवादी सम्राट औरंगज़ेब के काल (1658–1707) में भी नहीं।

अतः हमारा ध्यान बंगाल में मुगलकाल की तरफ मुड़ना चाहिए। क्या यह एक महज संयोग था कि डेल्टा क्षेत्र में ज़्यादातर मुसलमान कृषक वर्ग मुगल शासन के आगमन के पश्चात उभरा या कोई गूढ़ प्रक्रियाएं दोनों घटनाओं के मध्य संबंध बनाती हैं?

रिचर्ड ईटन: ऐरीज़ोना विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर।

हिन्दी रुपांतरण: रमेशचंद्र बरगले एवं गौतम पांडेय

रमेशचंद्र बरगले: भूतपूर्व विधायक एवं वकील। होशंगाबाद में रहते हैं।

गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम में कार्यरत।

यह लेख रिचर्ड ईटन की किताब, 'द राइज़ ऑफ इस्लाम एंड द बंगाल फ्रंटियर 1204–1760', प्रकाशक: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, के एक अध्याय पर आधारित है।

नाप-जोख के लिए विविध इकाइयां

रामकृष्ण भट्टाचार्य

बौधायन अपने शुल्व सूत्र का आरंभ रेखीय मापन संबंधी एक कथन से करते हैं और फिर वास्तविक निर्माण की समस्याओं पर जाते हैं। हम बौधायन के क्रम से ही चलेंगे और उनकी तालिकाओं की तुलना अन्य रचनाओं (जो बाद के काल की हैं तथा मूर्तिकला व वास्तुकला के ग्रंथों में प्राप्त हुई हैं) से करके चार शुल्व सूत्रों में वर्णित मापन की इकाइयों की एक सूची बनाएंगे। (बौधायन की तालिका अगले पृष्ठ पर दी गई है।)

मापन की इकाइयों पर सरसरी नज़र डालने से भी स्पष्ट हो जाता है कि इनकी जमावट में कोई क्रम नहीं है यद्यपि ये नाम बौधायन शुल्व सूत्र 1-4-21 व 78 में एक के बाद एक दिए गए हैं। एक बढ़ते क्रम में रखने की बजाए इकाइयां बेतरतीबी से जमाई गई हैं। इनमें दो किस्म के नाप साफ दिखाई पड़ते हैं–

एक मानव शरीर व उसके विभिन्न अंगों, खासकर हाथ व पैर के माप और दूसरा, बढ़ई या रथ निर्माता से संबंधित माप उत्तर युग, ईषा, अक्ष युग व शय्या।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि 1.9 से. मी. से बड़ी किसी भी इकाई को अंगुल में व्यक्त करना संभव है किन्तु कुछ इकाइयों को दर्शाने के लिए

बौधायन शुल्वसूत्र में दी इकाइयां

1 अंगुल =	14 अणु =	34 तिल =	1.9 से. मी.
1 क्षुद्र पद =	10 अंगुल =		19 से. मी.
1 प्रादेश =	12 अंगुल =		22.8 से. मी.
1 पृथोत्तरयुग =	13 अंगुल =		24.7 से. मी.
1 पाद =	15 अंगुल =		28.5 से. मी.
1 ईषा =	188 अंगुल =		357.2 से. मी.
1 अक्ष =	104 अंगुल =		197.6 से. मी.
1 युग =	86 अंगुल =		163.4 से. मी.
1 जानु =	32 अंगुल =		60.8 से. मी.
1 शम्या =	1 बाहु =	36 अंगुल	68.4 से. मी.
1 प्रक्रम =	2 पद =	30 अंगुल =	57 से. मी.
1 अरत्नि =	2 प्रदेश =	24 अंगुल =	45 से. मी.
1 पुरुष =	5 अरत्नि =	120 अंगुल =	228 से. मी.
1 व्याम =	5 अरत्नि =	120 अंगुल =	228 से. मी.
1 व्ययाम =	4 अरत्नि =	96 अंगुल =	182.4 से. मी.
1 विराट =	10 पद =	150 अंगुल =	285 से. मी.

[illegible] डंडा), युग (घोड़े की पीठ पर रखा जाने वाला जुआ), जानु (घुटना), शम्या (जुए की कील), व्याम (अर्थ स्पष्ट नहीं), व्यायाम (दो फैली भुजाएं), विराट (अर्थ स्पष्ट नहीं)।

बौधायन पाद व अरत्नि का उपयोग करते हैं। और व्यवस्था में कोई नियमितता भी नहीं है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र (ईसा पूर्व चतुर्थ सदी) तथा भरत के नाट्यशास्त्र (500–700 ई. यद्यपि कुछ अंश काफी प्राचीन, संभवतः ईसापूर्व काल के हैं) में जो रैखीय माप मिलते हैं उनमें अंगुल के माप को प्रयुक्त किया गया है और हमें अरत्नि, डण्डा, पाद, हस्त और वितस्ती जैसे नाम मिलते हैं इनमें से कई नाम बौधायन शुल्व सूत्र में भी हैं। परंतु अर्थशास्त्र व नाट्यशास्त्र में आठ को मूल संख्या मानकर चलने की प्रवृत्ति है। उदाहरणार्थ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 8 अंगुल से 1 धनुर्मुष्टि (बाण चलाने के लिए अंगूठा सीधा रखकर बनी मुट्ठी) बनने की बात है जबकि 8 यवमध्य (जौ के दाने का मध्य) मिलकर 1 अंगुल बनता है। नाट्यशास्त्र में भी 8 यव मिलकर 1 अंगुल बनाते हैं। किन्तु ये माप निश्चित

नहीं हैं: कौटिल्य में 4 अंगुल मिलकर 1 धनुर्ग्रह (चार उंगलियां धनुष्र को बीच में से पकड़े हुए) बनाते हैं। कौटिल्य में 14 अंगुल मिलकर 1 पाद बनता है जबकि बौधायन के शुल्व सूत्र में 15 अंगुल से 1 पाद बनता है।

सूक्ष्म इकाइयां

मापों का एक और समुच्चय हमें महावीर के गणित सारसंग्रह (लगभग 850 ईस्वी) में मिलता है। इसमें भी 'आठ के आधार' पर कार्य होता है और कौटिल्य और नाट्यशास्त्र की ही तरह यह भी अंगुल से पूर्व अत्यंत छोटे माप से शुरू होता है। उदाहरणार्थ:

अनत परमाणु = 1 अणु
8 अणु = 1 त्रसरेणु
8 त्रसरेणु = 1 रथरेणु (रथ की धूल)
8 रथरेणु = 1 शिरोरुह (बाल)
8 शिरोरुह = 1 लिक्ष (जूं का माप)
8 लिक्ष = 1 तिल या 1 सर्शप (सरसों)
8 तिल = 1 यव (जौ का दाना)
8 यव = 1 अंगुल या व्यवहारांगुल

---

8 का क्रम इसके आगे जारी नहीं रहता।

अंगुल तक पहुंचने से पूर्व 8 का इस तरह का क्रम हमें खगोलशास्त्र की रचनाओं (जैसे आर्यभट्ट के गोलपद पर यल्लय की टीका, सन् 1480) में तथा वास्तुकला की पुस्तकों (जैसे मानसार) में भी मिलता है। जैसा कि हम देख सकते हैं कि खास इकाई अंगुल तक पहुंचने में कई चरण लगते हैं। अंगुल के आधार पर ही शेष इकाइयां परिभाषित होंगी। हमें ऐसी बारीक इकाइयां मिलती हैं जिनका किसी कारीगर, बढ़ई या मिस्त्री के लिए कोई उपयोग नहीं है। किन्तु कौटिल्य से प्रारंभ करके हमें परमाणु व अणु जैसी 'पारभौतिक' इकाइयां मिलती हैं।

एक अर्थ में बौधायन शुल्व सूत्र में 'इधर-उधर की बात नहीं' वाली प्रवृत्ति नज़र आती है (किन्तु मनव में नज़र नहीं आती) और यह स्वयं को व्यावहारिक व प्रेक्षणीय इकाइयों तक ही सीमित रखता है।

यहां हम थोड़ा-सा अपने रास्ते से हटकर इस बात पर विचार कर सकते हैं कि इन संदर्भों में अणु व परमाणु शब्दों का अर्थ क्या है। बौधायन के टीकाकार बताते हैं कि अणु से तात्पर्य पैनिकम मिलिएशियम नामक वनस्पति के बीज से है। मूल रूप में इसका 'एटम' से या 'अणु' से कोई संबंध न था। वास्तुशास्त्र की पुस्तक (सुप्र-भेदागम) से हमें पता चलता है कि परमाणु का अर्थ है 'जो आकार में सबसे छोटा हो, जिससे छोटा कुछ न हो सके।' कुछ अन्य ग्रंथों में यह भी कहते हैं कि कोई मुनि और योगी, परमाणु को देख सकते हैं (मयमत,

मानसार)। दूसरे शब्दों में, आम स्त्री-पुरुष परमाणु को कदापि नहीं देख सकते। परंतु गौरतलब बात यह है कि यद्यपि परमाणु कथित रूप से अत्यंत सूक्ष्म है मगर अप्रेक्षणीय नहीं है। इस शब्द का अर्थ एक अणु के अत्यंत सूक्ष्म भाग से भी है।

30 अणु मिलकर धूप की किरण में धूलकण के रूप में नज़र आते हैं। परंतु यह भी कोई ऐसा माप नहीं है जिसे वास्तव में नापा जाए या व्यवहार में उपयोग किया जाए। लगता यह है कि एक आकांक्षा थी कि सूक्ष्मतम वस्तु को पहली इकाई बनाया जाए। और फिर बढ़ते-बढ़ते सबसे लंबी दूरी योजन तक ले जाया जाए।

दूसरी ओर, बौधायन सूत्र अपने आपको उन्हीं इकाइयों तक सीमित रखता है जिनकी वास्तव में ज़रूरत है। यह पूरी तरह व्यवहारोमुखी है। अतः इसे 'पारभौतिक' इकाइयों से कुछ लेना-देना नहीं है।

अंगुल के विभिन्न माप

यह भी गौरतलब है कि यद्यपि अंगुल का माप भारत में सबसे अधिक प्रचलित व नियमित रूप से प्रयुक्त माप रहा, किन्तु विभिन्न समयों पर देश के अलग-अलग हिस्सों में अन्य इकाइयां भी रहीं। और अंगुल शब्द भी सदैव एक ही लंबाई के लिए इस्तेमाल नहीं हुआ है। कम-से-कम तीन माप तो थे ही – मानांगुल, मापन या अंगुल, 8 यव की लंबाई के बराबर; मात्रांगुल, 'चित्र या भवन के स्वामि की मध्यमा से लिया गया'; और देहलब्धांगुल, यह वह नाप था जिसमें किसी मूर्ति को नाप जोख के लिए विभाजित किया जाता था।

मानांगुल को भी मानसार के मुताबिक 3 प्रकारों का बताया गया है: सबसे बड़ा 8 यव, मध्यम 7 यव और सबसे छोटा 6 यव। अर्थात अंगुली का अर्थ अंगुष्ठा भी हो सकता है जो 3/4 इंच के बराबर है।

और यह भी कहना होगा कि मूर्तिकला व वास्तुकला के कई कार्यग्रंथ भी परमाणु से शुरू होकर, कई इकाइयों का उल्लेख करते हुए अंगुल माप तक पहुंचते हैं।

कुछ अन्य इकाइयों का उल्लेख भी किया जा सकता है। ये इकाइयां 7 के क्रम में बढ़ती हैं। ये हमें गैर-गणितीय बौद्ध रचनाओं में मिलती हैं। हम शुरू कर सकते हैं ललित विस्तार नामक महायानी ग्रंथ से (रचनाकाल अज्ञात, किन्तु प्रथम सदी ईसा पूर्व या ईस्वी के लगभग हो सकता है)। इसमें इकाइयों की सूची निम्नानुसार है:

7 परमाणुरज = 1 रेणु या अणु (कण)
7 रेणु या अणु = 1 त्रुति (अणु)
7 त्रुति = 1 वातायनरज (खिड़की की धूल)

7 वातायनरज=1 शशरज (खरगोश की धूल)
7 शशरज = 1 एडुकरज (भेड़ की धूल)

और इसी प्रकार से आगे बढ़ते हुए गोरज, लिक्षरज (जूं की धूल), से होते यह क्रम सर्सप (सरसों) और फिर यव (जौ) तथा अंगुलपर्व तक पहुंचता है। इसके बाद सात गुना के अंतर को छोड़कर वास्तविक इकाइयां आती हैं, जैसे:

12 अंगुलपर्व = 1 वितस्ति
2 वितस्ति = 1 हस्त
4 हस्त = 1 धनु
1000 धनु = 1 क्रोश
4 क्रोश = 1 योजन

मापन का एक और तरीका वास्तुशास्त्र की एक रचना युक्तिकल्पतरु (काल अज्ञात) में मिलता है। इसमें परमाणु व शशरज जैसी सूक्ष्म काल्पनिक इकाइयों को तिलांजलि दे दी गई है किन्तु रस्सी के माप का इस्तेमाल किया गया है। जैसे,

9 तंतु (रेशे) = 1 सूत्र (धागा)
9 सूत्र = 1 गुण (रस्सी का एक रेशा)
9 गुण = 1 पाश (रस्सी)
9 पाश = 1 रश्मि (लगाम)
9 रश्मि = 1 रज्जु (रस्सा)

इस रचना में इकाइयों की एक और शृंखला मिलती है जो दाशमिक आधार पर बनी हुई है।

10 हस्त = 1 राजहस्त
10 राजहस्त = 1 राजदण्ड
10 राजदण्ड = 1 राजछत्र
10 राजछत्र = 1 राजकाण्ड
10 राजकाण्ड = 1 राजपुरुष
10 राजपुरुष = 1 राजप्रधानी
10 राजप्रधानी = 1 राजक्षेत्रम
(अंतिम चार इकाइयों के अर्थ संदिग्ध हैं)

ऐसा प्रतीत होता है कि इस तरह का पैमाना भूमि, खासकर राजा के अधीन भूमि के मापन के लिए बनाया गया था। इनमें से अधिकांश नाम किसी मानक संस्कृत शब्दकोश में नहीं मिलते तथा हम नहीं जानते कि यदि इन इकाइयों का उपयोग होता था तो कहां।

अब हम चार शुल्व सूत्रों में पाए जाने वाले रेखीय मापों की पूरी सूची प्रस्तुत करें। जैसा कि हमने पहले ही देखा अंगुल बुनियादी इकाई थी। इसके अतिरिक्त ग्रंथों में दो अन्य स्वतंत्र इकाइयों का ज़िक्र है: शरीर माप (या तो यज्ञ करवाने वाले यजमान का या करने वाले पुरोहित 'अध्वर्यु' का) और रथ-माप। आइए अब संपूर्ण सूची पर नज़र डालें। (सूची अगले पृष्ठ पर)

अब हम इस सूची पर कुछ टिप्पणियां करना चाहेंगे।

क. चारों शुल्व सूत्रों में उल्लेखित इकाइयों में से (यदि अंगुल को छोड़ दें तो) मात्र 5 ऐसी हैं जो

विविध नाप की इकाइयां

6 पुष्करनाल (कमल के परागकण) =	1 वत्सतर्यावाल (बछड़े का बाल) =	0.0083 से.मी.
6 वत्सतर्यावाल =	1 सर्षप (सरसों का बीज) =	0.05 से. मी.
6 सर्षप =	1 यव (जौ दाना) =	0.32 से. मी.
3 यव =	1 कृष्णल (एक बीज) =	0.96 से. मी.
6 यव =	14 अणु = 34 तिल =1 अंगुल =	1.9 से. मी.
3 कृष्णल =	1 मान =	2.88 से. मी.
4 कृष्णल =	1 निष्क =	3.84 से. मी.
6 अंगुल =	1 अर्व =	11.4 से. मी.
10 अंगुल =	1 क्षुद्रपद =	19.0 से. मी.
10 अंगुल =	1 प्रादेश =	19.0 से. मी.
12 अंगुल =	1 वितस्ति =	22.8 से. मी.
12 अंगुल =	1 पद =	22.8 से. मी.
12 अंगुल =	1 पिशिल (लकड़ी का बर्तन) =	22.8 से. मी.
13 अंगुल =	1 पृथोत्तर युग =	24.7 से. मी.
15 अंगुल =	1 पद =	28.5 से. मी.
20 अंगुल =	1 उर्वस्थि (जांघ की हड्डी) =	38 से. मी.
24 अंगुल =	1 अरत्नि (कोहनी) =	45.6 से. मी.
24 अंगुल =	1 प्रक्रम (कदम) =	45.6 से. मी.
30 अंगुल =	1 अणूक =	57 से. मी.
30 अंगुल =	1 जानु (घुटना) =	57 से. मी.
30 अंगुल =	1 प्रक्रम =	57 से. मी.
32 अंगुल =	1 जानु =	60. 8 से. मी.
32 अंगुल =	1 शम्या (जुए की कील) =	60.8 से. मी.
36 अंगुल =	1 शम्या =	68.4 से. मी.
36 अंगुल =	1 बाहु =	68.4 से.मी.
42 अंगुल =	1 बाहु =	79.8 से.मी.
45 अंगुल =	1 प्रक्रम =	85.5 से. मी.
64 अंगुल =	1 नाभि =	121 से. मी.
86 अंगुल =	1 युग (जुआ) =	163.4 से. मी.
96 अंगुल =	1 शय (हाथ या कोई लेटी वस्तु) =	182.4 से. मी.
96 अंगुल =	1 व्यायाम =	182.4 से.मी.
96 अंगुल =	1 आस्य (चेहरा) =	182.4 से. मी.
104 अंगुल =	1 अक्ष (धुरी) =	197.6 से. मी.
120 अंगुल =	1 पुरुष =	228 से. मी.
120 अंगुल =	व्याम =	228 से. मी.
125 अंगुल =	प्रपदोत्थन पुरुष (पंजों पर खड़ा पुरुष) =	237.5 से. मी.
150 अंगुल =	1 विराट =	285 से. मी.
188 अंगुल =	1 ईषा =	357.2 से. मी.

सब में समान हैं: अक्ष, अरत्नि, ईषा, पुरुष और युग। क्या यह अचरज की बात नहीं है कि कर्मकाण्ड के एक से नियमों का पालन करने के बावजूद चार शुल्व सूत्र इतनी अलग-अलग इकाइयों का उपयोग करते हैं अथवा कभी-कभी एक ही माप की इकाई के लिए अलग-अलग नाम इस्तेमाल करते हैं (जैसे पिशिल/प्रादेश/वितस्ति, अणुका/प्रक्रम, जानु/शम्या, शय/व्यायाम/आस्य और पुरुष/व्याम)?

कभी एक ही इकाई को अलग-अलग माप दिए गए हैं। और ऐसा एक ही शुल्व सूत्र में भी देखा गया है! उदाहरण के लिए, बौधायन शुल्वसूत्र में प्रक्रम 30 अंगुल का है जबकि मानव शुल्वसूत्र में इसे 24 अंगुलों का माना गया है। और आपस्तम्ब शुल्वसूत्र के अनुसार प्रक्रम आपकी इच्छानुसार (यथाकामी) 30 अंगुल का भी हो सकता है और 45 अंगुल का भी।

ख. आस्य, उर्वस्थि और नाभि, ये तीन इकाइयां सिर्फ आपस्तम्ब शुल्वसूत्र में ही मिलती हैं। ये समस्त पुरुष के नापों से संबंधित हैं (अंतिम इकाई रथ के माप से भी संबंधित हो सकती है)।

ग. रथ के माप पर आधारित इकाई शम्या मानव को छोड़ शेष तीनों शुल्वसूत्रों में मिलती है।

घ. अणूक नामक इकाई 30 अंगुल का माप है और सिर्फ आपस्तंब शुल्वसूत्र में मिलती है। यह एक विचित्र शब्द है और किसी मानक संस्कृत शब्दकोश में नहीं मिलता।

च. आपस्तंब और कात्यायन में अंगुल का अलग से उल्लेख नहीं किया गया है हालांकि अन्य समस्त इकाइयां इसी से बनती हैं।

छ. बौधायन में शम्या व बाहु दोनों का ज़िक्र है जबकि मानव में सिर्फ बाहु का (जबकि ये दोनों 30 अंगुल के माप हैं)। इसके विपरीत आपस्तंब और कात्यायन में मात्र शम्या है, बाहु नहीं। (यह भी उल्लेखनीय है कि कात्यायन में शम्या 32 अंगुल के बराबर है जबकि आपस्तंब व बौधायन में यह 36 अंगुल है।)

ज. तीन इकाइयां, क्षुद्रपद, पृथोत्तर-युग और विराट मात्र बौधायन शुल्वसूत्र में ही मिलती हैं।

झ. प्रादेश और व्यायाम, ये दो इकाइयां कात्यायन को छोड़कर शेष तीनों ग्रंथों में मिलती हैं।

ट. व्याम सिर्फ बौधायन में है, अन्यत्र नहीं।

ठ. आठ इकाइयां, अर्व, कृष्णन, मान, निष्क, प्रपदोत्थानपुरुष, यव,

वत्सतार्यावाल और सर्षप सिर्फ मानव में हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मान और निष्क को छोड़ दें तो इनमें से शेष समस्त इकाइयां अत्यंत सूक्ष्म हैं और शुल्व की दृष्टि से किसी काम की नहीं हैं। इनमें से कई का उपयोग सुनार व जौहरी वज़न तौलने के लिए करते हैं।

चिति निर्माण की इकाइयां

सार रूप में बारह से ज़्यादा इकाइयों का उपयोग चिति निर्माण में नहीं किया जाता। इनमें से मात्र छः ऐसी हैं जो चारों ग्रंथों में समान हैं। मापन की दो समांतर इकाइयां यजमान या अध्वर्यु मात्रा और रथ सम्मित या रथमात्रा साथ-साथ चलती हैं। कुछ इकाइयों के माप निश्चित नहीं हैं। शुल्व के दो ग्रंथ एक समान नहीं हैं। एक मामले में तो एक ही ग्रंथ, आपस्तंब शुल्व सूत्र एक ही इकाई के दो अलग-अलग माप बताता है। और बौधायन सूत्र, जो वास्तव में नपाई में उपयोगी सर्वाधिक इकाइयों (उन्नीस) का उल्लेख करता है, वह भी व्यवहार में नौ से अधिक इकाइयां नहीं बताता। ये नौ इकाइयां हैं: अंगुल, अरत्नि, जानु, पद, पुरुष, प्रक्रम, प्रादेश, व्याम और व्यायाम। (यह सही है कि सबसे अधिक इकाइयों के नाम मानव में हैं किन्तु इन 22 में से 6 किसी काम की नहीं हैं।) आपस्तंब और कात्यायन में क्रमशः सोलह और नौ इकाइयों का उल्लेख है जो लगभग सभी वास्तविक मान में उपयोगी हैं।

एक सवाल उठना स्वाभाविक है – न सिर्फ अलग-अलग ग्रंथों में बल्कि एक ही ग्रंथ के अंदर मापों में इतनी विसंगति कैसे हो सकती है? हम इसका एक ही जवाब दे सकते हैं कि भारत के अलग-अलग भागों में अलग-अलग समय पर मापन की इकाइयों में अंतर रहे होंगे। यही अंतर शुल्वसूत्रों में भी झलकते हैं। इससे परंपरा में एक व्यवधान का संकेत भी मिलता है। शुल्वसूत्र के रचनाकारों को पता नहीं था कि प्राचीन काल में किस परिपाटी का वास्तव में पालन होता था। हो सकता है कि रीति-रिवाज़ प्रचलन में रह गए हों।

अतः कुछ मामलों में शुल्वसूत्रों के लेखक निश्चित नहीं रह पाए होंगे कि क्या कुछ मापों को लेकर दो मत प्रचलित थे, उदाहरण के लिए आपस्तंब शुल्वसूत्र में वर्णित प्रक्रम का माप या पद कात्यायन में 12 अंगुल, बौधायन व आपस्तम्ब दोनों में 15 अंगुल है। जब उन्हें दो मत मिले होंगे तो उन्होंने दोनों का उल्लेख कर दिया होगा।

कभी-कभी माप को किसी एक इकाई के सापेक्ष दिया गया है तो कभी किसी अन्य इकाई के सापेक्ष। उदाहरण के लिए हमें यजमानमातृ

(बौधायन, आपस्तम्ब), अध्वर्युमातृ (आपस्तम्ब), रथमातृ (आपस्तम्ब), और शम्यामातृ (बौधायन) व व्यायाममातृ (बौधायन) का भी उल्लेख मिलता है।

यहां एक और प्रश्न उठ सकता है, वहां किस शरीर को मानक माना जाए – यज्ञ करवाने वाले यजमान का अथवा यज्ञ करने वाले पुरोहित अध्वर्यु का? आपस्तम्ब शुल्वसूत्र का मत है कि इनमें से किसी को भी चुना जा सकता है क्योंकि दोनों ही बलि के कर्त्ता हैं। किन्तु फिर भी दोनों के रूप में अंतर तो अवश्य होगा। और दूसरा प्रश्न यह भी है कि यदि यजमान कद में बहुत छोटा हो, तो?

इस वजह से कुछ मानकीकरण तो आवश्यक था। अतः मनुष्य शरीर या उसके अंगों (हाथ, पैर, बित्ते, भुजा, हथेली वगैरह) के अलावा किसी एक वस्तुनिष्ठ इकाई की ज़रूरत थी। इसलिए मानव शुल्व सूत्र प्रश्न करता है: "यदि यजमान रोगग्रस्त हो या जन्म से ही कद में छोटा हो, तो इस स्थिति में अध्वर्यु को किस माप का उपयोग करना चाहिए?" इसके बाद यह अंगुल जैसी अपेक्षाकृत वस्तुनिष्ठ इकाइयों का वर्णन करता है। यद्यपि शुरुआत तुण्ड, पुष्करनाल जैसी अतिसूक्ष्म इकाइयों से होती है। अंगुल का मान वस्तुनिष्ठ है (अर्थात् यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर नहीं है) क्योंकि इसका माप अणु नामक पौधे के 14 बीजों को परस्पर चौड़ाई में सटाकर रखकर नापा जाता है। इसी माप की एक और परिभाषा बौधायन में इस तरह की गई है कि तिल के 34 दानों को चौड़ाई में सटाकर रखने पर जो नाप आती है।

यह गौरतलब है कि पुरुष कोई मनमाना माप न होकर 120 अंगुलों का निश्चित माप है। वास्तविक व्यवहार में सर्वप्रथम यजमान को नाप लिया जाता है और फिर बढ़ई यजमान के रूप के अनुसार उपयुक्त आकार की ईंटें बनाने हेतु लकड़ी के सांचे बनाते हैं। अंततः ईंट बनाने वाले इन सांचों का उपयोग करके ईंटें बनाते हैं।

रैखीय मापों के उपरोक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शुल्वसूत्रों की विशिष्ट इकाइयों में निरंतरता भी नहीं रही है। स्वाभाविक रूप से यजमानमात्रा मूलतः चिति निर्माण तक सीमित रही। यह देश के किसी भी हिस्से में आमतौर पर स्वीकृत माप नहीं बना। दूसरी ओर रैखीय मापन की कुछ अन्य इकाइयां (जैसे अंगुल, हथेली, बित्ता, पैर वगैरह) अपनी उत्पत्ति से ही ज़्यादा लोकप्रिय थीं और पूर्णतः *सेक्युलर* थीं (इनकी उत्पत्ति ताक मिस्त्रियों, बढ़इयों आदि की व्यावहारिक ज़रूरतों में से हुई थी)। ये इकाइयां काफी लंबे समय तक उपयोग में रहीं। आज भी, मुगल व ब्रिटिश काल में लागू की गई विभिन्न

इकाइयों तथा वर्तमान मीट्रिक प्रणाली के बावजूद, देश के कुछ हिस्सों में मिस्त्री, बढ़ई और यहां तक कि दर्जी भी अपना काम बित्ते, अंगुल, हाथ वगैरह से चलाते हैं।

बड़े मापों के संदर्भ में पुरोहित लोग रथसम्मित (रथ निर्माताओं की इकाइयां) का भी उपयोग करते थे। अतः हम कह सकते हैं कि शुल्व सूत्र इन इकाइयों के स्रोत न होकर ईंट बनाने वालों, बढ़इयों आदि के क्रियाकलापों का परिणाम हैं। इस बात को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शुल्वसूत्रों के रचयिता भी स्वीकार करते हैं।

"मगर फिर ज्यामिति कहां है?" कोई पाठक बेचैन होकर यह सवाल पूछ सकता है, "यह सब तो सिर्फ मापन की बातें हैं।" जी हां, यही शुल्वसूत्र ज्यामिति की विशिष्टता है। इसमें अमूर्त रूपों पर नहीं, ठोस आकृतियों पर काम किया जाता है। इसमें अवधारणाओं पर नहीं बल्कि सचमुच की त्रिआयामी ईंटों और चितियों पर काम किया जाता है। इसकी समस्त ज्यामिति ईंटों की आकृति व आकार से संबंधित है। इनको बनाने व जमाने के कार्य में से ही सारी ज्यामिति उभरती है।

अगले अंक में हम यह बात करेंगे कि शुल्व ज्यामिति के रचयिताओं के सामने कौन-सी समस्याएं थीं और उन्होंने अपनी क्षमता के सर्वोत्तम उपयोग से इन समस्याओं को कैसे सुलझाया।

रामकृष्ण भट्टाचार्य: आनंद मोहन कॉलेज, कलकत्ता के अंग्रेज़ी विभाग में रीडर तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी पाठ्यक्रम में अतिथि लेक्चरर। विज्ञान लेखन में रुचि।

अनुवाद: सुशील जोशी। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम एवं स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। साथ ही स्वतंत्र विज्ञान लेखन एवं अनुवाद करते हैं।

दस हज़ार साल बाद अंकुरित हुआ यह बीज

बीजों को बोना और उनका अंकुरित होना हम सबके लिए काफी आम बात है। वैसे अंकुरण के लिए किन्हीं खास परिस्थितियों की ज़रूरत होती है। जैसे कुछ बीज तभी अंकुरित होते हैं अगर वे पर्याप्त रूप से सूख गए हों, शायद इस वजह से ताकि गुदेदार फल के भीतर ही अंकुरण न हो जाए। इसी तरह कुछ बीजों को अंकुरण के लिए रोशनी ज़रूरी है, तो कुछ बीजों का मिट्टी की परत के नीचे दबे रहना ज़रूरी है। कुछ रेगिस्तानी बीज बारिश का इंतज़ार करते हैं, जब बारिश होती है और बीज अच्छी तरह से पानी से सराबोर हो जाते हैं तभी अंकुरण होता है उनमें।

इन सब बातों से तो ऐसा लगता है कि बीज को तो अंकुरित होना ही है – जैसे ही उसे संकेत मिला कि अंकुरित होने के लिए उपयुक्त हालात हैं बस अंकुरण की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी।

थोड़ी देर के लिए मान लीजिए बीज के अंकुरण के लिए उपयुक्त माहौल कई साल न मिले तो क्या होगा? 50–60 साल न मिले तो? तब तक क्या बीज की अंकुरण क्षमता खत्म नहीं हो चुकी होगी? क्या बीज पचास साल बाद भी अंकुरित होगा? आपको यह जानकर अचरज होगा कि कई बीजों में लंबे समय तक सो पाने (Dormancy) की खूबी होती है जिसकी वजह से बीज पचास साल तो क्या कभी-कभी हज़ारों साल तक ज़िंदा रहकर अंकुरण के लिए उपयुक्त माहौल का इंतज़ार कर सकते हैं!

सन् 1879 में एक प्रयोग के दौरान मिशिगन वीड (Michigan Weeds) की 20 प्रजातियों को 160 सालों के लिए सुरक्षित रखा गया। कुछ साल के अंतराल पर इन सब प्रजातियों के बीज अंकुरित करने की कोशिश की जाती है, यह देखने के लिए कि बीस में से कितनी तरह के बीज अभी भी अंकुरित हो रहे हैं। कुछ साल पहले जो आखिरी परीक्षण हुआ है उसमें देखा गया कि इनमें से तीन प्रजातियों के बीज अभी भी अंकुरित हो रहे हैं।

ल्यूपिनस आर्कटिक्स का पौधा: एक खदान से मिले ल्यूपाइन के बीजों की उम्र रेडियो कार्बन विधि से दस हज़ार साल निकली। उपयुक्त माहौल दिए जाने पर ये बीज 48 घंटे में अंकुरित हो गए। अंकुरित बीज से बढ़कर बने एक पौधे का फोटो।

जापान के एक वनस्पति विज्ञानी को मंचुरिया (चीन) में 'पीट' (कोयला बनने की प्रांरभिक अवस्था) की परतों में कुछ बीज मिले थे जिनकी आयु रेडियो कार्बन विधि से 2000 साल आंकी गई थी। इन बीजों का कवच घिसकर जब उनमें पानी घुसने का मौका दिया गया तो सभी बीज अंकुरित हो गए। यह एक नया रिकॉर्ड था कि 2000 साल पुराने बीज भी अंकुरित हो सकते हैं।

परन्तु सन् 1967 में आर्कटिक टुंड्रा प्रदेश में पाए जाने वाले ल्यूपाइन के बीजों ने इस रिकॉर्ड को बहुत ही पीछे छोड़ दिया। ये बीज बर्फीले इलाके में एक खदान में पाए गए थे। इन बीजों की आयु लगभग दस हज़ार वर्ष आंकी गई है और उपयुक्त माहौल देने पर ये बीज 48 घंटों में अंकुरित हो गए।

हवाई और भूमिगत फूल: बाईं तरफ कनकव्वा के पौधे के हवाई और भूमिगत फूल हैं और दाहिनी ओर खट्टी बूटी के। विस्तृत जानकारी पृष्ठ 15 पर।

फोटो : के.आर. शर्मा